अलग-अलग रास्ते

[तीन अंकों का सामाजिक नाटक]

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण

मूल्य ३)

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन, ५ खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद—१

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

कुंवर गजराजसिंह जी के लिए
साभार

अनुक्रम

ऐतिहासिक पत्र

●

अश्क



रीवां नरेश महाराज शिवसिंह जू के 'आनन्द रघुनन्दन' से 'अलग-अलग रास्ते' तक हिन्दी का नाटक कितनी मंजिल तय कर आया है और 'अलग-अलग रास्ते' अपने पूर्ववर्ती नाटकों से कितना भिन्न है, यह जानने के लिए पिछले अढ़ाई सौ वर्षों के नाटक साहित्य और उसकी प्रवृत्तियों पर एक विहंगम दृष्टि डालनी जरूरी है।

'आनन्द रघुनन्दन' का नाम मैंने इसलिए लिया कि विभिन्न आलोचकों मतानुसार यही हिन्दी का पहला मौलिक नाटक समझा जाता है। यह नाटक लगभग १७०० ई० में लिखा गया। इसकी भाषा यद्यपि ब्रज है, पर इसकी शैली संस्कृत नाटकों की परम्परा में गद्य-पद्य-मय है और इसका शिल्प भी प्राचीन संस्कृत नाटकों का अनुगामी है।

'आनन्द रघुनन्दन' के बाद लगभग सौ डेढ़ सौ वर्ष तक एक भी नाटक नहीं मिलता। फिर वाजिदअली शाह के दरबारी कवि 'अमानत' की 'इन्दर

सभा' सामने आती है, जिसकी सफलता एक ओर उर्दू नाटक को जन्म देती है, दूसरी ओर हिन्दी नाटक को अपने उस भूले हुए सरमाये पर दृष्टिपात करने को विवश करती है, जो संस्कृत काल की उन ऊँचाइयों से उतर कर, जब कि कालिदास और भवभूति से पंडित स्वान्तः सुखाय लिखा करते थे और ब्राह्मण अभिनेता अभिनय के कमाल दिखाया करते थे, अवनति की ऐसी नीचाइयों में जा गिरा था कि ब्राह्मण नाटककारों और अभिनेताओं की संतति पेट भरने के लिए ऐसे नाटक लिखने और खेलने को विवश थी, जिनमें दर्शकों की काम भावनाओं का उद्दीपन ही एकमात्र लक्ष्य रह गया था, द्रोपदी-चीर-हरन जैसे दृश्य मंच पर दिखाये जाने लगे थे और नाटक-मण्डलियाँ ऐसे नाटक करते करते-केवल नकलचियों के रूप में शेष रह गयी थीं।

'आनन्द रघुनन्दन' से कुछ समय पहले ही संस्कृत के एक प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' का अनुवाद जोधपुर नरेश महाराज जसवन्त सिंह द्वारा हिन्दी में हो चुका था और दो एक नाटकीय काव्य 'हनुमन्नाटक' तथा 'समय सार' नाटक भी हिन्दी में उल्था हो चुके थे। अमानत का रहस 'इन्दर सभा' कहाँ तक इन काव्य नाटकों से प्रभावित है, यह कहना कठिन है, पर इसमें संदेह नहीं कि काव्य नाटकों की परम्परा अपने अवनत रूप में ही क्यों न हो, 'भगत मण्डलियों' और बहुरूपियों द्वारा उस काल तक अवश्य पहुँची, अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के नाच-गानों, गीति-नाट्यों का भी उस पर प्रभाव पड़ा और यों अमानत ने अपना गीति नाट्य तैयार किया जो कैसर बाग़ में, साज-सामान और पर्दों के साथ रंगमंच पर प्रस्तुत हुआ। स्वयं वाजिदअली शाह उसमें राजा इन्द्र की भूमिका में उतरे। यद्यपि उज्जयन में महाराज विक्रमादित्य के राज्यकाल में शकुन्तला के प्रथम अभिनय का जो वर्णन हम तक पहुँचा है, उसमें पर्दे का उल्लेख है और सीन-सीनरी का भी, लेकिन अमानत की 'इन्दर सभा' के स्टेज होने से पहले तक भारत में जो नाटक मण्डलियाँ रास लीलाएँ करती थीं, उनमें पर्दे नहीं होते थे। पर्दों का प्रचलन पहली बार 'इन्दर सभा' में हुआ।

'इन्दर सभा' अभी नाटक के आकाश पर अकेले तारे की तरह चमक रही थी कि लखनऊ के इन्द्र का सिंहासन उलट गया और 'इन्दर सभा' केसरबाग के एकांत से निकलकर जनता के सामने आयी। लखनऊ अपनी तबाही के शोक में डूबा था, उसे 'इन्दर सभा' खेलने और देखने का अवकाश कहाँ, सो वह बम्बई पहुँची। पारसियों ने उसमें रुपया कमाने की सम्भावना देखी और उसे हाथों हाथ लिया। इस रस-प्रधान गीति-नाट्य ने पुराने संस्कृत नाटकों की याद ताज़ा कर दी और 'इन्दर सभा' के साथ धार्मिक नाटक भी खेले जाने लगे।

लेकिन अकेला पद्य रंगमंच पर अधिक देर तक नहीं रहा, एक ओर संस्कृत नाटकों और दूसरी ओर विदेशी नाटकों की देखा देखी पद्य-मय गद्य का समावेश हिन्दी नाटकों में हुआ। क्योंकि 'इन्दर सभा' की परम्परा को पारसियों ने अपनाया और पारसी हिन्दी से दूर थे, इसलिए उन्होंने अजीब अंग्रेजी, फ़ारसी, मराठी, कोनकनी मिली उर्दू में नाटक खेलने शुरू किये। वे नाटक पहले पहल 'इन्दर सभा' की नकल में सब के सब पद्य में थे। फिर मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' ने पहले पहल अपने नाटकों में गद्य का प्रवेश किया। इसी काल में भारतेन्दु बाबू का उदय हुआ। उन्होंने एक ओर 'आनन्द रघुनन्दन' की तरह संस्कृत नाटकों के अनुकरण में गद्य-पद्य-मय मौलिक नाटक लिखे। दूसरी ओर 'प्रबोध चन्द्रोदय' की परम्परा में संस्कृत नाटकों के बड़े सुन्दर अनुवाद किये। अमानत द्वारा चलायी हुई धारा 'रौनक', 'ज़रीफ़', 'तालिब', 'अहसन', 'बेताब', 'राधेश्याम कथावाचक,' 'आगा हश्र' तथा इम्तियाज़अली ताज तक पहुँची और महाराज शिवसिंह जू तथा महाराज शिवप्रसाद सिंह द्वारा चलायी हुई मौलिक तथा अनूदित नाटकों की परम्पराएँ भारतेन्दु, उनके समकालीनों के बाद द्विजेन्द्रलाल के हिन्दी अनुवादों से होती हुई जयशंकर प्रसाद के नाटकों में अपने चरम-शिखर पर पहुँचीं।

यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि भारतेन्दु ने अपने मौलिक नाटकों तथा अनुवादों की रचना, ज़रूरी नहीं कि 'आनन्द रघुनन्दन' अथवा

'प्रबोध चन्द्रोदय' को पढ़कर ही की, यहाँ अभिप्राय केवल परम्पराओं से है।

जहाँ तक 'अमानत' वाली धारा का सम्बन्ध है, पद्य के बाद पद्य-मय-गद्य अनुप्रास-मय-गद्य से होते हुए ताज के अनारकली में वह उर्दू के बड़े सुन्दर परिष्कृत गद्य तक आयी। इसी प्रकार 'आनन्द रघुनन्दन' वाली धारा सूत्र-धार, नान्दी, विष्कम्भक, अंकावतार, स्वगत, बात-बात में आने वाले दोहों, सवैयों, कवित्तों और गीतों-कविताओं को छोड़ती हुई प्रसाद के नाटकों में अपने परिष्कृत रूप में प्रकट हुई।

'आनन्द रघुनन्दन' और 'इन्दर सभा'—हिन्दी नाटक के आरम्भिक युग के ये दो नाटक वास्तव में हिन्दी-नाटक साहित्य की दो समानान्तर चलने वाली धाराओं के दो आरम्भिक विन्दु हैं। 'आनन्द रघुनन्दन' साहित्यिक और 'इन्दर सभा' व्यावसायिक नाटक धारा का प्रतिनिधित्व करता है। ये दो धाराएँ भारतेन्दु और प्रसाद युग में बराबर साथ चलती हुई वर्तमान युग तक आयी हैं। ऐसा भी हुआ कि एक युग में एक धारा अपेक्षाकृत सूख गयी और दूसरी किनारों तक लबलबाती हुई बह निकली। लेकिन ये धाराएँ सदा वर्तमान रहीं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

साहित्यिक और व्यावसायिक नाटक से मेरा क्या अभिप्राय है? व्यावसायिक नाटक कैसे साहित्यिक नहीं होता या कम साहित्यिक होता है? इस पर दो शब्द कहना ज़रूरी है। मोटे तौर पर दोनों में चार-पाँच भेद हैं :—

१—साहित्यिक नाटक वह है जो पढ़ा जाता है और व्यावसायिक वह जो व्यवसाय अर्थात् लाभ के लिए खेला जाता है। यों तो साहित्यिक नाटक भी एमेचर संस्थाओं द्वारा खेले जाते हैं और कभी-कभी उन पर टिकट भी लगाया जाता है, लेकिन इतने भर से वे व्यावसायिक नहीं हो जाते। उनकी अपील अधिकतर दर्शकों के बदले पाठकों तक होती है।

२—साहित्यिक नाटक का रचयिता जन-रुचि के अनुसार अपना नाटक नहीं लिखता, बल्कि जन-रुचि को बनाता है। इसी कारण व्यावसायिक की अपेक्षा उसमें स्थायी कलात्मक तत्व अधिक विद्यमान रहते हैं।

३—साहित्यिक नाटक की भाषा कई बार जन भाषा का परिमार्जित रूप ग्रहण करती है और व्यावसायिक नाटक चलती हुई भाषा को अपनाता है।

४—साहित्यिक नाटक का सृजनकर्त्ता कई बार नये रूप अपना लेता है और वस्तु तथा शिल्प में नये प्रयोग करता है, जबकि व्यावसायिक नाटककार हानि के भय से ऐसा करने से हिचकिचाता है ?

५—जहाँ तक सामाजिक तत्वों का सम्बन्ध है, साहित्यिक नाटक व्यावसायिक की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी होता है। व्यावसायिक नाटक समाज की कुरीतियों पर यदि चोट भी करता है तो बड़ी दबी जबान से, लेकिन साहित्यिक नाटक जन-रुचि का अनुकरण नहीं, उसका परिमार्जन करना चाहता है, इसलिए उसमें सुधार और क्रान्ति का स्वर प्रमुख रहता है।

६—और इसीलिए प्रायः साहित्यिक नाटक में यथार्थ और व्यावसायिक में थोथे आदर्श का स्वर प्रमुख रहता है।

आलोचकों ने लिखा है कि अमानत की 'इन्दर सभा' इतनी लोकप्रिय हुई कि मदारीलाल ने भी उसी को देखकर 'इन्दर सभा' लिखी। मेरा विचार है कि अमानत की 'इन्दर सभा' की लोकप्रियता से प्रभावित होकर नहीं, उसके परिष्कार के विचार ही से मदारीलाल ने अपना नाटक रचा और इसीलिए चाहे रंगमंच पर वह उतना सफल न हुआ, पर उसका साहित्यिक महत्व कम नहीं। दोनों की भाषा की एक बानगी देखिए :—

राजा इन्द्र का आगमन	राजा इन्द्र का आगमन
अमानत	मदारीलाल
सभा में दोस्तो इन्दर की आमद आमद है	सुल्ताने-शाह बज़्म में तशरीफ़ लाते हैं
है परी जमालों के अफ़सर की आमद आमद है	सारे जहां को अपना तजम्मल दिखाते हैं
खुशी से चहचहे लाज़िम हैं सूरते बुलबुल	खिलअत से सब अमीरों को करते हैं सरफ़राज़
अब इस चमन में गुले-तर की आमद आमद है	रुतबा किसी का शान किसी की बढ़ाते हैं
फ़रोगे हुस्न से आँखों को अब करो रौशन	अज़-बस्के जमा हैं दरे-दौलत पै खासो-आम
ज़मीं पै मेहरे मुनव्वर की आमद आमद है	मुजराई मुजरे का भी नहीं बार पाते हैं

इन दो उद्धरणों से साफ़ पता चल जाता है कि जहाँ अमानत की इन्दर सभा का उद्देश्य आम रुचि को लेकर चलना था, वहाँ मदारीलाल का उद्देश्य उसका परिष्कार था। अमानत ने राजा इन्द्र को परीजमालों का अफ़सर कह दिया, लेकिन मदारी लाल को यह शब्द राजा इन्द्र का अपमान लगा और उसने तज्जमल (शान शौकत) शब्द प्रयोग किया।

आम रुचि के परिष्कार की इसी भावना ने भारतेन्दु को अपने नाटक लिखने की प्रेरणा दी। पारसी कम्पनियों ने व्यावसायिक लाभ से 'इन्दर सभा' का अनुकरण किया, इसलिए आरम्भिक रंगमंचीय नाटक खासे घटिया थे। एक बार एक विद्वान ने पारसी कम्पनी के मालिक को कुछ सुधार करने के लिए कहा तो उसे उत्तर मिला—"हम यहाँ रुपया पैदा करने आये हैं, साहित्य का भण्डार भरने नहीं, देशोद्धार और समाज सुधार का ठेका

हमने नहीं ले रखा, हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा वही करेंगे। और इसका फल यह हुआ कि जहाँ उस मनोवृत्ति के लोगों ने 'इन्दर सभा' की देखा देखी, 'लैला मजनूं', 'शीरीं फ़रहाद', 'गुलबकावली, 'चित्रा बकावली' जैसे गीति-नाट्य खेले वहाँ हिन्दू जनता के मनोरंजनार्थ धर्मको व्यवसाय का आधार बनाते हुए, धार्मिक नाटक भी खेले। यह दूसरी बात है कि धार्मिक होने पर भी उनका कलात्मक स्तर वही रहा। भारतेन्दु के समय ही में खेले जाने वाले नाटक रामलीला में (जिसे नज़ीर ने लिखा) राम और सीता आपस में बातें करते हैं तो उस समय की प्रचलित घटिया शब्दावली का प्रयोग करते हैं।

प्रकट है कि 'इन्दर सभा' के अनुकरण में लिखे जाने और धड़ाधड़ खेले जाने वाले नाटकों से भारतेन्दु को बड़ी वितृष्णा होती थी। उन्होंने स्वयं एक जगह लिखा है :—

> "काशी में पारसी नाटक वालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला तो उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' गाने लगा तो डा० थिबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"

इसी वितृष्णा ने उनसे खड़ी बोली में उस समय के समाज की बुराइयों का पर्दा फ़ाश करने वाले नाटक लिखवाये। साथ ही उन्होंने संस्कृत के गौरव ग्रन्थों का अनुवाद किया ताकि जन अपनी पुरानी सम्पत्ति को पहचानें।

प्रसाद में प्रचलित रंग-नाटकों के प्रति यह वितृष्णा और भी बढ़ी। इस बीच में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक भी हिन्दी में आ चुके थे, इसलिए प्रसाद के नाटकों पर उनका भी प्रभाव पड़ा। प्रचलित रंग-नाटकों का इतना प्रभाव उनके नाटकों पर ज़रूर है कि स्वगत भाषण बड़े लम्बे हैं, प्रवेश तथा प्रस्थान कई बार अकारण हैं, और स्थल-स्थल पर कविताएँ

और गीत हैं। लेकिन क्या भाषा, क्या कथानक और क्या चरित्र-चित्रण—सब में प्रसाद के नाटक प्रचलित रंग नाटकों से भिन्न हैं। प्रसाद का यह कहना था कि वे रंगमंच का ध्यान रखकर अपने को नहीं बदलेंगे, बल्कि रंगमंच जब उनके नाटक करना चाहेगा तो अपने आपको बदलेगा। और उस समय जब पारसी थियेटर का ह्रास हो रहा था, जयशंकर प्रसाद ने एक से बढ़कर एक साहित्यिक नाटक लिखा और जब व्यावसायिक नाटक लगभग मौन हो गया तो उनकी अनथक साहित्यिक साधना के कारण साहित्यिक नाटक अपनी परम्परा को समेटकर आगे बढ़ा। साथ ही बढ़ा दोनों के मध्य का अन्तर। आग़ा हश्र, बेताब या राधेश्याम कथावाचक के नाटकों की तुलना यदि प्रसाद के नाटकों से करें तो उस अन्तर का भलीभाँति पता चलता है।

लेकिन जब हम यह देखते हैं कि महान अंग्रेज़ी नाटककार शेक्सपियर ने अपने नाटक यद्यपि रंगमंच के लिए लिखे, तो भी वे अंग्रेज़ी साहित्य ही नहीं, दुनिया के साहित्य की विभूति हुए और भारतेन्दु ने यद्यपि अपने नाटक साहित्य की अभिवृद्धि के लिए लिखे, लेकिन उनके जीवनकाल ही में रंगमंच पर भी खेले गये तो हम पाते हैं कि साहित्यिक और व्यावसायिक दोनों के बीच की खाई ऐसी नहीं कि पाटी न जा सके। साहित्यिक नाटक का रचयिता जब अपने समय के रंगमंच का ध्यान रखता है तो उसके नाटक साहित्यिक रहते हुए भी रंगमंचीय हो जाते हैं और रंगमंच के लिए लिखने वाला जब सामाजिक रूढ़ियों और प्रथाओं पर तीव्र आघात करता है, अपने नाटकों द्वारा मानव मन के निगूढ़ सत्यों का उद्घाटन करता है, यथार्थ का चित्रण या सच्चे आदर्श का प्रतिष्ठापन करता है, ऐतिहासिक नाटक लिखता है तो मानव की शाश्वत प्रवृत्तियों का चित्रण कर मानव का पथ-प्रदर्शन करता है और अपने नाटक को रंगमंच की घटिया प्रवृत्तियों से बचा लेता है तो वह दर्शकों और पाठकों—दोनों के मनोरंजन का ध्यान रखता है और उसके नाटक

व्यावसायिक होते हुए भी साहित्यिक रहते हैं। भारतीय नाटक साहित्य में आग़ा हश्र इसके उदाहरण हैं। 'आग़ा हश्र' ने प्रकट ही रंगमंच के लिए नाटक लिखे लेकिन अपने समकालीनों—'तालिब', 'हसन', 'बेताब' और 'राधेश्याम कथावाचक' से वे इसलिए भिन्न हैं कि जहाँ दूसरों के नाटक रंगमंच पर बड़े सफल हुए, पर उनका साहित्यिक महत्व नहीं के बराबर है, वहाँ 'आग़ा हश्र' के उत्कृष्ट नाटक रंगमंच पर सदा सफल रहने के साथ-साथ साहित्य का महत्वपूर्ण अंग बने और उन्होंने इम्तयाज़अली को अनारकली जैसा सफल साहित्यिक नाटक लिखने की प्रेरणा दी, जो रंगमंच पर भी उतना ही सफल रहा। 'हश्र' ने हिन्दी में भी दस नाटक लिखे जो बड़े लोकप्रिय हुए। श्री सोमनाथ गुप्त ने अपने 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' में आग़ा 'हश्र' के सम्बन्ध में लिखा है :—

"....'हश्र' की भाषा में बड़ी शक्ति है। साथ ही धारावाहिकता भी। उनके पात्र साधारण जीवन के होते हुए भी आदर्श की सीमा को पहुँच जाते हैं। पतनोन्मुखी और उत्थानोन्मुखी का विरोध उनके चरित्र-चित्रण की साधारण शैली है। अपनी रंगीन लेखनी से वे ऐसी घटनाओं और चरित्रों का निर्माण करते हैं, जिनमें अनुभव की तीव्रता और मानवीय भावनाओं की कोमलता एवं कठोरता दोनों का समावेश हो जाता है। ऐसे दृश्यों को देखकर दर्शक मण्डली का हृदय अपने तनाव की उच्च सीमा पर पहुँच कर करुणा से विभोर हो उठता है।"

प्रकट है कि जिस रंग-नाटक में ये गुण हैं वह सहज ही उच्चकोटि का साहित्यिक नाटक भी हो जायगा।[१]

१—हिन्दी साहित्य का यह दुर्भाग्य है कि किसी ने आग़ा 'हश्र' के हिन्दी नाटकों का सम्पादन करके, उनके संस्करण प्रकाशित नहीं कराये। अब भी आशा है कि आलोचक उस महान नाटककार को जिसने फ़ारसीदान होते हुए भी हिन्दी की सेवा की, उसका उचित स्थान देंगे।

शेक्सपियर हो, भारतेन्दु हो या आग़ा हश्र—वे तभी ऐसे नाटक लिख सके कि उच्चकोटि के साहित्यिक होते हुए उन्हें रंगमंच का पूरा ज्ञान था अथवा रंगमंच का पूरा ज्ञान रखने के साथ वे उच्चकोटि के साहित्यिक थे। शेक्सपियर और आग़ा हश्र न केवल स्वयं अभिनेता थे, वरन् रंगमंच की कला का उन्हें पूरा ज्ञान था और वे स्वयं अभिनेता होने के साथ कुशल निर्देशक भी थे। रहे भारतेन्दु तो उच्चकोटि के कवि और नाटककार होने के साथ वे स्वयं बड़े कुशल अभिनेता थे। काशी के जीवन के सम्बन्ध में उन्होंने जो प्रहसन और व्यंग्य-नाटक लिखे उनकी भाषा पात्रानुकूल रखी और उन्हें सफलता से खेला।

प्रसाद के जीवनकाल ही में हिन्दी (अथवा उर्दू) रंगमंच मृत-प्रायः हो गया था। एक तो बहते जीवन से नित्य नया रक्त न ले सकने के कारण वह मुरझा गया। दूसरे प्राचीन परम्पराओं और ऐतिहासिक गाथाओं से नये कथानक लेना उसने छोड़ दिया, सामाजिक यथार्थ को वह छूता न था। पहले विश्व युद्ध के बाद आर्थिक संघर्ष बढ़ गया। लोगों के पास इतना अवकाश न रहा कि सारी-सारी रात बैठकर नाटक देखें और यद्यपि मौन चित्र-पटों का तो सामना वह करता रहा, पर बोल पटों ने उसकी बोलती बन्द कर दी और कम अवधि में कहीं अधिक मनोरंजन उपस्थित करके उसे बेकार कर दिया। पश्चिम के व्यावसायियों ने इस विपत्ति का मुकाबिला करने के लिए नाटक का कलेवर बदल कर कहीं छोटा बना दिया, पर हमारी थियेटर कम्पनियाँ और उनके नाटककार समय की बदलती आवश्यकताओं के अनुसार अपने आप को न ढाल सके। थियेटर कम्पनियों को फ़िल्म कम्पनियों में परिवर्तित करने ही में उन्होंने अपनी कुशल समझी। लेकिन फ़िल्म के तगादे दूसरे थे। वहाँ के अभिनय और पुराने रंगमंच के अभिनय में आकाश-पाताल का अन्तर था, इसलिए वे प्रयास सफल न हुए। मदन थियेट्रीकल कम्पनी की जगह मदन फ़िल्म कम्पनी बनी। उस जमाने की प्रसिद्ध अभिनेत्री मिस

कज्जन, मास्टर भगवानदास आदि सब फ़िल्मों में उतरे लेकिन बुरी तरह असफल हुए। आग़ा 'हश्र' ने स्वयं एक फ़िल्म कम्पनी खोली, प्रसिद्ध अभिनेत्री मिस मुख़्तार और मास्टर नसार फ़िल्मों में उतरे, पर फ़िल्म के हल्के-फुल्के गानों और ग़ज़लों के सामने उनकी शास्त्रीय संगीत पद्धति से गायी जाने वाली ग़ज़लें बिलकुल न जमीं (फ़िल्म के पर्दे पर क्लोज़ अप में मिस मुख़्तार या नसार का मुँह फाड़े 'आ..... आ....' करते हुए तान पल्टे लेना बड़ा हास्यास्पद लगता था) और वे सभी लेखक और अभिनेता विस्मृति के गर्त में बिला गये। इन थियेटर कम्पनियों के फ़िल्म और उनकी असफलता मैंने अपनी आँखों देखी और उनका दुखप्रद अन्त आज भी मेरे सामने है।

उस समय जब रंगमंच का दीप बुझ गया था और हिन्दी में प्रसाद के साहित्यिक नाटकों और उर्दू में ताज के अनारकली का बोलबाला था, आधुनिक नाटक ने जन्म लिया।

जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, प्रसाद की परम्परा से नाता तोड़ने वालों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, भुवनेश्वर, गणेशप्रसाद द्विवेदी, डाक्टर रामकुमार वर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रसाद के समकालीन हैं, पर उन्होंने अपनी प्रेरणा प्रसाद के बदले 'शा' से ली और समस्या प्रधान बौद्धिक नाटक लिखे। लेकिन क्योंकि स्टेज से उनका उतना सम्बन्ध न था, इसलिए उनके नाटक केवल उलझे, लम्बे सम्वाद बनकर रह गये। उनमें नाटकीयता न आ पायी और इसी कारण वे कभी खेले न जा सके।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों के बाद लगता है कि हिन्दी में उस समय कोई भी आधुनिक समस्या-मूलक बड़ा नाटक नहीं लिखा गया। हाँ, भुवनेश्वर, गणेशप्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट और बाद में श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने एकांकी लिखे। भुवनेश्वर तथा द्विवेदी

जी के एकांकी प्रधानतः सुपाठ्य हैं। डाक्टर रामकुमार वर्मा तथा श्री माथुर के एकांकियों में रंगमंच का भी ध्यान रखा गया है और इन दोनों के सफल एकांकी सुपाठ्य होने के साथ अभिनेय भी हैं।

जहाँ तक सम-सामयिक नाटक का सम्बन्ध है (और अलग-अलग रास्ते ऐसा ही नाटक है) उसका जन्म हिन्दी हो या उर्दू—पहले एकांकी नाटकों के रूप में हुआ। हिन्दी का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उर्दू में आग़ा हश्र के मौन होने के बाद अहमद शुजा ने ऐसे नाटक लिखे जिनमें आग़ा हश्र की शैली और नयी आवश्यकताओं का समावेश था, 'बाप का गुनाह' और 'भारत का लाल' ऐसे ही नाटक हैं। लेकिन ताज ने अपने नाटक 'अनारकली' में हश्र की गद्य-पद्य-मय शैली को एकदम तिलांजलि देकर, बड़ी सुथरी, धुली-मंजी ज़बान में अपना नाटक सृजा।

इम्तयाज़अली ताज स्वयं बड़े अच्छे अभिनेता थे। बोलपट के आगमन के बाद उन्होंने रंगमंच में परिवर्तन की आवश्यकता को समझ लिया था और चाहे पुराने नाटक के लिए उनके मन में मोह पूर्ववत् बना था, तो भी वे समझ गये थे कि रंगमंच को जीवित रहने के लिए अपने नाटकों का कलेवर बदलना होगा। इसी उद्देश्य से उन्होंने कुछ योरोपीय एकांकियों को उर्दू में रूपान्तरित किया। अहमद शुजा ने भी तीन छोटे बंगला नाटक 'मनतोष', 'तारा', और 'मीना' उर्दू भाषा में प्रस्तुत किये। उन्हीं दिनों सज्जाद ज़हीर का प्रसिद्ध एकांकी 'बीमार' प्रकाशित हुआ। तभी ए० एस० बुख़ारी[1] ने जो उस समय गवर्नमेण्ट कालेज लाहौर में अध्यापक थे और बड़े उच्चकोटि के लेखक, अभिनेता और निर्देशक थे, ताज तथा अन्य मित्रों के साथ मिलकर पहले अंग्रेज़ी और फिर अंग्रेज़ी से रूपान्तरित कुछ उर्दू नाटक गवर्नमेण्ट कालेज के स्टेज पर सफलता से किये। बुख़ारी दिल्ली चले गये तो अंग्रेज़ी अध्यापक और कवि श्री बलदून ढींगरा ने 'बिल्डर्स आफ़

---

[1] विभाजन के पूर्व आल इण्डिया रेडियो के डायरेक्टर जनरल

दि ब्रिजेज़' (पुल बनाने वाले) एक रूमानी समस्या-मूलक आधुनिक अंग्रेज़ी नाटक को उर्दू में रूपान्तरित कर आधुनिक प्रणाली से गवर्नमेण्ट कालेज के मंच पर अभिनीत किया। प्रसिद्ध फ़िल्म अभिनेता बलराज साहनी और उनकी पत्नी दमयन्ती साहनी (दम्मो) ने उसकी भूमिकाओं में अभिनय किया। मैंने भी वह नाटक देखा। मैं उन दिनों अपना लम्बा ऐतिहासिक नाटक 'जय पराजय' लिख रहा था। उसे देखकर मुझे लगा कि 'जय पराजय' कभी स्टेज पर न खेला जायगा, खेला जायगा तो ऐसा अच्छा न लगेगा और क्योंकि मुझे स्वयं रंगमंच से लगाव रहा है, इसलिए मुझे प्रतीत हुआ कि ऐसे नाटक लिखने से क्या लाभ जो कभी रंगमंच पर न आयें। और मैंने तय किया कि प्रसाद और द्विजेन्द्रलाल राय की परम्परा में वह मेरा पहला और अन्तिम नाटक होगा। 'जय पराजय' यद्यपि कई विश्व-विद्यालयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित है और वह लगभग पचास हज़ार बिक चुका है, पर फिर मैंने वैसा नाटक नहीं लिखा।

'जय पराजय' के साथ ही मैंने कई सफल एकांकी लिखे। 'लक्ष्मी का स्वागत' और 'अधिकार का रक्षक' तो उन्हीं दिनों लाहौर और इलाहाबाद के एमेचर रंगमंच पर खेले गये।

प्रोत्साहन पाकर मैंने दूसरे वर्ष अपना पहला आधुनिक नाटक 'स्वर्ग की झलक' लिखा। उसमें यद्यपि मैंने समय का तो संकलन किया—सारे का सारा कथानक एक इतवार ही में समाप्त हो जाता है—पर स्थान और कार्य-व्यापार का संकलन न कर सका। उस नाटक को रंगमंच पर सफलता-पूर्वक प्रस्तुत करने के लिए चार और कम-से-कम सात बार पर्दा गिराने की आवश्यकता है, इसलिए किसी एमेचर रंगमंच के लिए उसे खेलना असाध्य था।

'स्वर्ग की झलक' १९३९ में छपा। १९४०-४१ में मैंने अपना नाटक 'छठा बेटा' लिखा। यह हर दृष्टि से आधुनिक नाटक है। समय, स्थान और कार्य-व्यापार तीनों का संकलन, पात्रों का चरित्र-चित्रण तथा

समस्या का गुम्फन इसमें यथेष्ठ सफलता से हुआ है। सेट एक है और नाटक की सारी कथा का नियोजन कुछ ऐसे हुआ है कि उतने ही समय का कथानक है, जितनी अवधि में यह रंगमंच पर होता है।

'छठा बेटा' १९४२ में छपा, लेकिन प्रकाशक केवल पाठ्य-पुस्तकें छापते थे, सो छापकर उन्होंने गोदाम में बन्द कर रखा। १९५२ में इसका दूसरा संस्करण हुआ और यह पंजाब, उड़ीसा और मध्यभारत के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में ही सम्मिलित नहीं हुआ, बल्कि देशभर में एमेचर रंगमंच पर सफल रहा। केवल दिल्ली में यह गत तीन वर्ष में तीन बार—हिन्दू कालेज में, आर्टिस्ट्स कम्बाइन ग्वालियर द्वारा नाट्योत्सव पर, तथा कुमारी कपिला मलिक द्वारा एज्यूकेशन मिनिस्ट्री के नाटक क्लब की ओर से—खेला गया। इलाहाबाद, नागपुर, मद्रास, बीकानेर—एक-एक शहर में दो-दो बार हुआ।

'छठा बेटा' के बाद जहाँ तक बड़े नाटकों का सम्बन्ध है, मैंने 'भँवर', 'कैद', 'उड़ान' और 'पैंतरे' लिखे। पहले तीनों साधारण दर्शकों के लिए कठिन हैं और यद्यपि उनमें आधुनिक नाटकों के सभी गुण हैं, तो भी उच्चकोटि के दर्शकों और अभिनेताओं की अपेक्षा रखते हैं। 'पैंतरे' में सेट तीन हो जाते हैं, किसी एमेचर रंगमंच के लिए उसे प्रस्तुत कर पाना कठिन है, इसलिए इन चारों में से कोई भी न खेला जा सका।

'अलग-अलग रास्ते' १९४३ में आदिमार्ग के नाम से एकांकी रूप में लिखा गया था।[1] लेकिन उसमें अपूर्णताएँ थीं और उसका मूलभूत विचार एक बड़े नाटक की अपेक्षा रखता था। १९५१ में म्योर हास्टल इलाहाबाद के रंगमंच पर 'छठा बेटा' की सफलता से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मैंने १९५२ में इसे लिख डाला और १९५३ के मसूरी प्रवास में इसकी अन्तिम

---

[1] देखिए परिशिष्ट

पाण्डुलिपि तैयार कर दी। पुस्तक रूप में आने से पहले यह उसी वर्ष सर्दियों में इलाहाबाद के पैलेस थियेटर में और पन्द्रह दिन बाद यूइंग क्रिश्चियन कालेज के स्टेज पर खेला गया। गत वर्ष तरुण संघ कलकत्ता ने इसे नाट्य महोत्सव के अवसर पर सफलतापूर्वक अभिनीत किया।

अलग-अलग रास्ते सच्चे अर्थों में आधुनिक नाटक है और इसलिए अपने समस्त पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्न है। प्रसाद काल के नाटकों में (हरि-कृष्ण प्रेमी तथा उदयशंकर भट्ट के समस्त ऐतिहासिक नाटक उसी काल के अन्तर्गत आ जाते हैं) और आधुनिक नाटकों में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं।

१—आधुनिक नाटक पुराने नाटकों से कम लम्बे हैं, यदि पुराने पाँच छः घण्टों में समाप्त होते थे तो आधुनिक दो अढ़ाई और अधिक से अधिक तीन घण्टों में समाप्त हो जाते हैं।

२—पुराने नाटकों में तीन से पाँच तक अंक हैं और प्रत्येक अंक के अन्तर्गत दस-दस ग्यारह-ग्यारह दृश्य हैं। आधुनिक नाटक में सामान्यतः तीन से अधिक अंक नहीं होते और दृश्यों की संख्या भी दो-तीन से ज्यादा नहीं होती। 'अलग-अलग रास्ते' में तीन अंक हैं और वही अंक दृश्य हैं अर्थात् अंकों का दृश्यों में कोई विभाजन नहीं।

३—संकलन त्रय—अर्थात् समय स्थान और कार्य-व्यापार का संकलन आधुनिक नाटक का प्रमुख गुण है। पिछले नाटकों में यदि एक दृश्य दिल्ली तो दूसरा कलकत्ता होता था। एक यदि दस वर्ष पहले था तो दूसरा दस वर्ष बाद का होता था। रहा कार्य-व्यापार, तो वह भी संगठित न था। एक ही नाटक में दो-दो कथानक—एक गम्भीर दूसरा प्रहसन—साथ-साथ चलते थे। एक दृश्य में गम्भीर कथानक वाला कार्य-व्यापार रहता था तो दूसरे में हास्य रस वाला आ जाता था। इस प्रकार नाटक के रस में आघात पहुँचता था। आधुनिक नाटक में एक ही कथानक होता है और किसी व्याघात की जरा भी गुंजाइश नहीं रहती।

४—आधुनिक नाटक स्वगत भाषण को अस्वाभाविक मानता है। स्वगत भाषण आधुनिक नाटक में उतना ही सह्य है जितना कि साधारणतः जीवन में होता है। कभी-कभी आदमी भावावेश में आ चिन्तातुरता में एक-आध वाक्य अपने से कहता है। वह भी तब, जब दूसरे उपस्थित न हों। उतना ही स्वगत भाषण आज के नाटक में होता है।

प्रसाद ने सूत्रधार, नांदी, विष्कम्भक, आकाश भाषित इत्यादि भारतेन्दु काल के नाटक की कई अस्वाभाविक बातें छोड़कर उसे अपेक्षाकृत सरल बना दिया था। रंगमंच पर दूसरे अभिनेता की उपस्थिति में उसी के सम्बन्ध में स्वगत भाषण करना भी उनके यहाँ नहीं है, पर स्टेज पर अकेले पात्र से देर देर तक बातें कराने और यों उसके और दूसरों के बारे में जानकारी देने की प्रथा को वे भी नहीं छोड़ पाये! प्रसाद के यहाँ स्वगत वाक्यों की भरमार है जो कई बार काफ़ी लम्बे हैं। क्योंकि यथार्थ जीवन में जब तक मनुष्य विक्षिप्त न हो, वैसे न दर्शन बघारता है न प्रलाप करता है, इसलिए वे स्वगत भाषण बड़े अस्वाभाविक लगते हैं। आधुनिक नाटकों में वैसे स्वगत भाषणों का पूर्ण बहिष्कार है।

५—प्रसाद के नाटकों में भी पूववर्ती नाटकों की तरह रंगमंच अथवा उसके उपकरण का कोई निर्देश नहीं। कारण यह कि सब काम वहाँ पर्दों से लिया जाता था। आज के नाटक में पर्दे नहीं होते। सेट (set) होते हैं और इसलिए नाटककार उस सेट का पूरा ज्ञान निर्देशक को देता है, ताकि वह लेखक की इच्छानुसार उसके नाटक को प्रस्तुत कर सके।

६—प्रस्थान और प्रवेश की योजना भी पुराने नाटकों में अस्वाभाविक है। जब नाटककार को आवश्यकता पड़ी कोई पात्र चला गया अथवा कोई आ गया। आधुनिक नाटक में ऐसा नहीं होता। हर प्रस्थान और हर प्रवेश के लिए मानसिक या शारीरिक कारण देना होता है और उसका नाटक के कथानक में विशेष अर्थ होता है। यदि किसी पात्र का प्रवेश

किसी जगह अभीष्ट है तो पहले से उस प्रवेश की सम्भावना बनी होती है। यही हाल प्रस्थान का है।

७—चरित्र-चित्रण पर भी आधुनिक नाटक में बड़ा जोर दिया जाता है। आधुनिक नाटक का पात्र कितनी भी असम्भाव्य बात क्यों न करे, नाटककार उसे सम्भाव्य बनाकर दिखाता है। पुराने नाटकों की तरह (फिर वे प्रसाद के हों, भट्ट के हों या प्रेमी के हाल ही में लिखे हुए) आधुनिक नाटक के पात्र कठ पुतलियाँ नहीं कि नाटककार की स्वेच्छा से आयें-जायें और कार्य सम्पादन करें। वे जीते-जागते पात्र हैं और उनके हर कार्य के पीछे उनके मनोभावों की प्रेरणा रहती है। जिन नाटकों में यह चरित्र-चित्रण जितना स्वाभाविक हुआ है वे उतने ही सफल हुए। लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक नाटकों और आज के नाटकों में यही अन्तर है।

८—पुराने नाटक इन्हीं कारणों से सत्य का भ्रम नहीं दे पाते। दर्शक को सदा यही महसूस होता है कि वह नाटक देख रहा है। आज के नाटक का साज-सामान ही नहीं, उसका लेखन, निर्देशन और अभिनय—सब में सत्य का यह भ्रम उत्पन्न करने का उद्देश्य निहित रहता है।

आज का आधुनिक नाटककार यदि ऐतिहासिक नाटक भी लिखता तो इन सब बातों का ध्यान रखता है। जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' और प्रसाद के किसी भी नाटक की तुलना से इस बात का भली-भाँति पता चल जायगा। ऐतिहासिक होते हुए भी 'कोणार्क' आधुनिक शैली का नाटक है और उसमें आधुनिक नाटक के गुण यथेष्ट मात्रा में विद्यमान हैं।

'अलग-अलग रास्ते' भी अपने पूर्ववर्ती नाटकों से इसीलिए भिन्न है। संकलन त्रय का संयोजन यहाँ इस हद तक है कि यदि निर्देशक चाहे तो इसे दो घंटे का एकांकी तक बनाकर बिना एक भी पर्दा गिराये खेल सकता है। नाटक के कथानक को इस प्रकार रखा गया है कि पात्रों के सम्बन्ध में सब कुछ उतनी ही कम परिधि और अवधि में मालूम हो जाता है। जितने समय में नाटक मंच पर होता है उतने ही में यथार्थ जीवन में। यदि अभिनेता अपनी

भूमिकाओं को अच्छी तरह निभायें तो जरा भी न मालूम होगा कि नाटक हो रहा है। सत्य के भ्रम की यही सृष्टि वास्तव में आज के नाटक की जान है। पश्चिम में जहाँ घूमने वाले मंच हैं और बिजली की सहायता से क्षण-क्षण में सेट उखाड़े-बनाये जा सकते हैं, संकलन त्रय के बिना भी सत्य का यह भ्रम उत्पन्न किया जा सकता है, पर भारत के रंगमंच की वर्तमान दशा को देखते हुए सरल से सरल रंगमंच की आवश्यकता है और उसी दृष्टि से 'अलग-अलग रास्ते' की रचना हुई है।

हिन्दी के साहित्यिक नाटक की परम्परा तो भारतेन्दु काल से अब तक अनवरत चली आ रही है (प्राचीन से लेकर आधुनिक काल तक साहित्यिक नाटक की शृंखला नहीं टूटी) लेकिन पारसी कम्पनियों के ह्रास के बाद दीर्घकाल तक भारत का व्यावसायिक रंगमंच सोया रहा। लगभग पन्द्रह वर्ष बाद १९४५-४६ में प्रसिद्ध कलाकार पृथ्वीराज कपूर ने पृथ्वी थियेटर्ज के नाम से बम्बई में पहली आधुनिक व्यावसायिक कम्पनी कायम की। पृथ्वी थियेटर्ज ने पिछले सात-आठ वर्षों में सात नाटक—'शकुन्तला', 'दीवार', 'पठान', 'आहुति', 'गद्दार', 'कलाकार' और 'पैसा' अभिनीत किये हैं। 'शकुन्तला' को छोड़कर शेष सभी सामाजिक हैं। 'दीवार' तो सांकेतिक रूप से राजनीतिक भी है। लेकिन ऐतिहासिक हो, सामाजिक हो या राजनीतिक—वे सब आधुनिक रूप-सज्जा में रंगमंच पर प्रस्तुत हैं। शकुन्तला में समय का संकलन चाहे न हो, पर स्थान और कार्य-व्यापार का संकलन है। पर्दे नहीं हैं। सेट एकदम स्वाभाविक हैं। नाटक की अवधि कम है और अंक भी कम हैं। 'दीवार' में सिर्फ़ एक सेट है और उसी सेट पर नाटक की सारी कहानी पूरी हो जाती है। आहुति में तीन, कलाकार में दो और पैसा में तीन सेट हैं। चरित्र-चित्रण भी पुराने नाटकों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। भोंडे प्रहसन अथवा नाच-गाने नहीं और यों व्यावसायिक नाटक उसी तरह

साहित्यिक के निकट आ गया है जैसे साहित्यिक व्यावसायिक के निकट चला गया है।

इस दृष्टि से 'अलग-अलग रास्ते' प्रसाद की नहीं, भारतेन्दु की परम्परा का नाटक है, जब कि साहित्यिक और व्यावसायिक नाटक का अन्तर उतना बड़ा न था।

'अलग-अलग रास्ते' और आज के व्यावसायिक नाटक—अर्थात् पृथ्वी थियेटर्ज़ के नाटकों में कुछ भी अन्तर न हो, ऐसी बात नहीं। अन्तर प्रायः वही है जो आरम्भ में साहित्यिक और व्यावसायिक नाटक में बताये गये हैं। पृथ्वी थियेटर्ज़ में 'शकुन्तला' हो या 'दीवार', 'आहुति' हो या 'पठान', 'कलाकार' हो या 'पैसा'—प्रत्येक नाटक में नृत्य-संगीत का समावेश किसी न किसी बहाने अवश्य हुआ है। 'अलग-अलग रास्ते' में न नाच है और न गाना (अलग-अलग रास्ते की बात नहीं, जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क', लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिन्दूर की होली' अथवा मेरे दूसरे नाटकों—'छठा बेटा', कैद, 'पैंतरे' इत्यादि में नाच-गाना कहीं नहीं।) नाटक में नाच-गाने का होना बुराई नहीं, पर वह जहाँ भी आता है, यदि नाटक का अंग बनकर आता है तो कथानक में जान पैदा करता है, उसे आगे बढ़ाता है, नहीं तो उसमें बाधा उपस्थित करता है। व्यावसायिक पृथ्वी थियेटर्ज़ के कई नाटकों में नाच तथा गाने कथानक को बढ़ाते नहीं, उसकी गति को अवरुद्ध करते हैं। इनके अतिरिक्त भाषा का भी अन्तर है और सामाजिक यथार्थ का भी। फिर दर्शक को पृथ्वी थियेटर्ज के नाटक जो आनन्द देते हैं, पाठक को नहीं देते। कला की जिन त्रुटियों को पृथ्वीराज अपने अपूर्व अभिनय से दबा देते हैं, वे पढ़ने पर उभर कर सामने आ जाती हैं।

अपने नाटकों में 'अलग-अलग रास्ते' को मैं छठा बेटा और अंजो दीदी की तरह ऐसा नाटक मानता हूँ जो साहित्यिक है, लेकिन रंगमंच पर भी—

वह चाहे एमेचर हो या व्यावसायिक—पूरी सफलता से खेला जा सकता है—और खेला जा चुका है।

आज के नाटक में ये दोनों गुण अनिवार्य हैं, क्योंकि तभी साहित्य और व्यवसाय की खाई भरी जा सकती है और नाटक का सच्चा उद्देश्य पूरा हो सकता है।

●

वस्तु तथा कला पक्ष



कमलेश्वर



वस्तु पक्ष

'अलग-अलग रास्ते' एक समस्या नाटक है। इसकी समस्या विवाह की है, जिसे दो सगी बहनों—रानी और राज के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इसी समस्या को त्रिलोक और मदन के दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता था, परन्तु परम्परागत वैवाहिक लीक पर चलने के लिए नारी की विवशता पुरुष से अधिक रही है, इसीलिए इस समस्या को सम्भवतः नारी के दृष्टिकोण से ही सामने रखना नाटककार को अभीष्ट हुआ।

प्रत्येक समस्या के पीछे प्राकृतिक और मानवीय आवश्यकताओं का हाथ रहता है। यह आवश्यकताएँ ही समस्या का निर्माण करती और फिर इसका समाधान खोजती हैं। विवाह का प्रश्न भी प्राकृतिक और मानवीय आवश्यकताओं का परिणाम है। प्रत्येक प्रश्न के अन्तिम और पूर्ण समाधान के लिए दिन-दिन विकसित होती सामाजिक चेतना प्रयास करती आयी है और मानव के लाभ को प्रमुखता देते हुए सन्तुलन स्थापित करती रही है। संक्रान्ति काल में प्रत्येक समस्या नया सन्तुलन माँगने लगती है। वर्तमान

सामाजिक जीवन में यह विवाह की समस्या भी नवीन आधार माँगती है—इसी नवीन का आग्रह 'अलग-अलग रास्ते' में है।

नाटक का सूत्रपात रानी के टूटे हुए वैवाहिक जीवन को लेकर होता है और उसी में राज के असफल दाम्पत्य जीवन का सूत्र आकर जुड़ जाता है। रानी और राज के जीवनों की विषमताओं का कारण, उनका या उनके पतियों का दोष न होकर, वह दृष्टिकोण है जिससे प्रेरित होकर ताराचन्द अपनी पुत्रियों का विवाह कर देते हैं। पहली बार ताराचन्द त्रिलोक के घर-बार ओर उनके पिता की प्रतिष्ठा और परिवार की सम्पन्नता को ही सब कुछ मानकर रानी को ब्याह देते हैं—त्रिलोक स्वयं क्या है, वह किस मिट्टी का बना है और उसकी प्रवृत्तियाँ कैसी हैं, इस ओर वे ध्यान नहीं देते। अच्छा कुल ही सब कुछ है, अपने इसी विश्वास के आधार पर वे त्रिलोक को चुन लेते हैं। जब इस विश्वास का परिणाम उनके सामने आता है, तो दूसरी पुत्री राज के लिए वे ऐसा वर तलाश करते हैं, जो प्रकृति से हँसमुख, आदर्शवादी और कुशाग्र-बुद्धि है। जिसके जीवन में बड़ी सम्भावनाएँ छिपी हैं, जो कल एक प्रतिष्ठित व्यक्ति बनने वाला है, यद्यपि वह एक ग़रीब पुरोहित का लड़का है।

अपने पुरातन संस्कारों और विवाह प्रणाली के प्रति परम्परागत चले आते हुए विचारों के कारण ही ताराचन्द दोनों जगह वह आधारभूत भूल करते हैं जिसके कारण उनकी पुत्रियों का जीवन नष्ट हो जाता है। हिन्दू विवाह को एक सामाजिक-संस्था मानते आये हैं और इसीलिए उसमें व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा का उतना स्थान नहीं रहा है जितना पारिवारिक महत्ता का। ताराचन्द भी इसी विचारधारा के पोषक और विश्वासी हैं। वे एक बार कुल और घराना देखते हैं, दूसरी बार लड़के का उज्ज्वल भविष्य और उसके पिता की सज्जनता।

ताराचन्द त्रिलोक को इसलिए चुनते हैं कि उसके पिता रायबहादुर हैं और उनके पास खासी जायदाद है, और जब उन्हें पता चलता है कि त्रिलोक ने रानी से इसीलिए विवाह कर लिया था कि दहेज में मकान और मोटर मिलेगी और यह कि उसके पिता—रायबहादुर साहब—के सारे मकान गिरवी रखे हुए हैं तो उन्हें अपनी भूल का पता चलता है।

परन्तु लगभग ऐसी ही भूल वे राज के विवाह में फिर करते हैं। उन्हीं के कहे हुए वाक्य पूरन के सम्वाद में आते हैं—"मैं लड़के के पिता से मिला हूँ, बड़े सज्जन आदमी हैं, अहंकार तो उनमें नाम को भी नहीं। भेंट हुई तो कहने लगे—मैं तो आपको पाकर धन्य हो जाऊँगा।"

उनका भावी समधी उन्हें पाकर धन्य हो जायगा, यह बात तो पंडित ताराचन्द ने जान ली, किन्तु उनके होने वाले समधी का लड़का—उनका भावी दामाद भी (पूरन के शब्दों में) उनकी लड़की को पाकर धन्य होगा या नहीं, यह जान लेना उन्होंने आवश्यक नहीं समझा।

वास्तव में नयी चेतना के प्रतीक पूरन का यह विचार ताराचन्द के संस्कार-ग्रस्त दृष्टिकोण की आलोचना है। और इसी वाक्य में वर्तमान विवाह- प्रणाली का सन्तुलित और बुद्धि-सम्मत उत्तर समाहित है।

अश्क जी ने वर्तमान वैवाहिक संस्था को सम्पन्न करने वाली उन दोनों ही विचारधाराओं को सामने ला रखा है जो दूषित हो चुकी हैं। ताराचन्द दोनों पुत्रियों के पतियों को चुनते समय उन हाड़-मांस के पुतले वरों से एक बात भी नहीं करते, न उनकी इच्छा-आकांक्षों को जानने का प्रयत्न करते हैं। और इसीलिए पुत्रियों के असफल जीवन का अभिशाप उठाये, बिगड़ी हुई परिस्थिति को संभालने का नाकाम प्रयास करते हैं। किस तरह दोनों पक्ष झूठ में एक दूसरे से बाजी मार ले जाने की सोचते हैं, अपनी खोखली सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा के बल पर शादियाँ करते हैं और एक दूसरे को मूर्ख बना सकने की कोशिश में रहते हैं, यह भी आज के विवाह का एक मनोवैज्ञानिक पक्ष है। शादी तय करते समय इस चतुराई का भी बड़ा

हाथ होता है। ताराचन्द भी इसी हथकण्डे से काम लेते हैं, बड़ी ही सफ़ाई से वे परमानन्द द्वारा त्रिलोक के दिमाग़ में यह बात पैदा करवा देते हैं कि उनकी पुत्री से शादी करने पर त्रिलोक के लिए वे न जाने क्या-क्या कर देंगे, दहेज से उसका घर भर देंगे। यह बात स्वयं उनके सम्वाद में ही खुल जाती है, जिसे वे बड़ी ख़ूबी से परमानन्द के गले मढ़ देते हैं। वास्तव में वे दहेज में मोटर और मकान देने की लालच देकर ही त्रिलोक को भरमा लेते हैं और इसी कारण रानी का जीवन नष्ट हो जाता है।

दूसरी बार वे राजी के ससुर पंडित उदयशंकर को सन्तुष्ट देखकर विवाह पक्का कर देते हैं, इसलिए भी कि उनके अहं को पंडित जी की इस बात से बहुत बड़ा सन्तोष मिल जाता है कि पंडित उदयशंकर उन्हें पाकर धन्य हो जायेंगे। मदन की इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। इन छोटी-छोटी भूलों से कितने भयंकर परिणाम निकल सकते हैं और ज़िन्दगियाँ किस तरह एक अंधेरी राह पर भटक सकती हैं, इसका संकेत इस नाटक में मिल जाता है।

सम्मिलित परिवार की वर्तमान दशा और उसकी उपादेयता तथा अनुपयोगिता पर भी नाटककार ने दृष्टि डाली है। मध्यवर्गीय परिवारों की आज की सबसे बड़ी समस्या उनके संयुक्त रह सकने की है। समूह में रहने के लिए व्यक्ति को अपना कुछ देना पड़ता है, छोड़ना पड़ता है। यह त्याग ही संयुक्त परिवार की एकता की भित्ति है। परन्तु त्याग करने के लिए जिस सब्र, सन्तोष और विशाल हृदयता का होना आवश्यक है, वह बहुधा सम्मिलित परिवार के सभी सदस्यों में नहीं होती। नव-विवाहित लोगों के लिए तो यह पहला प्रश्न होता है कि वे किस तरह अपने परिवार की एकता की रक्षा कर सकें। नाटककार ने संयुक्त परिवार व्यवस्था को उसकी सभी ख़ामियों और ख़ूबियों के साथ त्रिलोक और पूरन के सम्वादों में प्रस्तुत कर दिया है। और जहाँ यह ठीक ही है कि

उचित रूप से संगठित परिवार व्यक्ति के लिए शक्ति, रक्षा और सुविधा प्रदान कर सकते हैं, व्यक्ति के विकास में सहायक हो सकते हैं और उसकी आकस्मिक दुर्घटनाओं या बुढ़ापे में साथ दे सकते हैं; वहाँ यह भी ठीक है कि कई बार सम्मिलित परिवार बाहर स आने वाले नये सदस्यों—नयी बहुओं—का जीवन असह्य भी बना देते हैं।

इन सामाजिक समस्याओं की ओर संकेत करते हुए नाटककार ने अपनी मूल समस्या का समाधान भी प्रस्तुत किया है। पुरानी परिपाटी पर चलकर जिस तरह रानी और राज के लिए रास्ते बन्द से दीखते हैं, वे गहन मानसिक संघर्ष के बाद खुलते भी हैं तथा रानी और राज अपनी-अपनी राहों पर चली जाती हैं। दोनों के रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं, दोनों दो दिशाओं में चल देती हैं, जबकि दोनों के जीवन की दुर्घटनाएँ लगभग एक सी हैं। दोनों अपनी ससुरालें छोड़कर आ जाती हैं, दोनों का संघर्ष एक पत्नी का संघर्ष है, पर उनमें एक मौलिक अन्तर है। यह अन्तर है प्रेम और विद्रोह का—रानी विद्रोहिणी है और राज एक अर्पित प्रेमिका।

रानी का पति त्रिलोक लम्पट और लोभी है, उसमें अपने वर्ग की विशेषताएँ मौजूद हैं। लोभ के कारण ही वह रानी को ब्याह लेता है और जब उसके परिवार में रानी को दहेज न लाने के कारण ताने-तिश्ने सुनने पड़ते हैं तो स्वाभिमानिनी रानी अपनी ससुराल छोड़कर बाप के घर चली आती है। यहीं पूरन की संगति में उसे वह प्रेरणा प्राप्त होती है,जिससे वह अपने जीवन की विषमताओं को झेल सकने की शक्ति प्राप्त करती है। रानी की समस्या हृदय की नहीं है, यदि है भी तो गौण है। उसकी समस्या घृणा,लोभ, कटुता के पारावार से निकल कर अपने स्वाभिमान की रक्षा की है, मानसिक यंत्रणा से छुटकारा पाने की है, क्योंकि अपने नये घर में पहुँचते ही स्नेह, सहयोग और अपनत्व के स्थान पर उसे उलाहने और जी को जलाने वाले ताने सुनने पड़ते हैं। पति की ओर से उन लड़कियों की चर्चा सुनायी पड़ती है, जिनके पिता उसे कहीं अधिक दहेज देने को तैयार

थे या जो उससे अधिक पढ़ी-लिखी और सभ्य तथा सुसंस्कृत थीं। इसीलिए जब ताराचन्द त्रिलोक को सन्तुष्ट करके उसे वहाँ भेजने की योजना बनाते हैं तो वह पूरन से पूछती है, "क्या इस तरह उनके लोभ का पेट भरने से मेरा घरेलू जीवन सुखी हो सकेगा ?" और इस प्रश्न का उत्तर स्वयं अपनी बुद्धि से पाकर वह उस नरक में पैर न रखने का प्रण कर लेती है।

और जब वृन्दाबन से यह आश्वासन पाकर कि ताराचन्द उसे मकान और मोटर ले देंगे, लोभी त्रिलोक तत्काल तैयार हो जाता है और रानी को वापस लाने के लिए आ पहुँचता है; अपनी हर ज्यादती को अपनी मजबूरी के नकाब से ढककर धूर्तता पूर्ण बातें करता है और रानी को हर तरह से समझाने की कोशिश करता है और अलग मकान लेकर रहने की बात कहता है तो वह त्रिलोक के इस बनावटी रूप के प्रति बेपनाह नफ़रत से भरकर चीख उठती है—"......मैं आपकी मोह-ममता को खूब समझती हूँ, आपको खूब जानती हूँ.....आप जाइए.....पिताजी से मकान लीजिए, मोटर लीजिए, मुझे उस मकान, मोटर की कोई आवश्यकता नहीं।"

त्रिलोक के प्रति उबलती घृणा ही उसे यह शक्ति प्रदान करती है और वह किसी भी मूल्य पर समझौता करने के लिए तैयार नहीं होती, वह त्रिलोक को अपने जीवन से काटकर निकाल देती है।

पर राज ऐसा नहीं कर पाती। वह किसी भी मूल्य पर मदन को अपने से विलग नहीं देख सकती। वह मदन को अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाकर रखना चाहती है। यहाँ समस्या हृदय की है। वह अर्पित प्रेमिका है, वह अपने को मदन के लिए समर्पित कर चुकी है। वह उसे चाहने लगी है। वह प्रतिदान के रूप में कुछ भी नहीं चाहती, वह केवल प्रेम करती है। वह अपनी असह्य पीड़ा को—कि उसका पति मदन अपनी पूर्व प्रेमिका दर्शनो से शादी कर रहा है—मुस्कराहट में छिपाकर पी जाना चाहती है।

राज के जीवन की विषमता की प्रकृति दूसरी ही है। वह अपनी ससुराल की लाड़ली बहू है, पर पति का प्रेम उसके भाग्य में नहीं है। फिर न जाने कौन

सा अलक्षित आर्कषण उस भावुक खोये-खोये मदन में है, जो उसे अपनी ओर चुम्बक की तरह खींचकर प्यार करने को विवश कर देता है। वह जितना ही उससे भागने की कोशिश करता, वह उतना ही उसके निकट होना चाहती है। राज यह भी जानती है कि मदन एक शिक्षित लड़की सुदर्शना से प्रेम करता है किन्तु तब भी उसकी समर्पण की भावना नहीं मरती। उसकी यह विवशता ही उसके मानस की शक्ति है। सारी स्थिति से परिचय प्राप्त करके रानी के यह कहने पर—"मैं सोचती हूँ, तुमने यह सब कैसे सहा। मैं तो बहुत पहले छोड़कर चली आती।" तो उसका वह विवश प्रेम जैसे अपनी सारी निष्ठा को लेकर बोल पड़ता है—

"न जाने क्यों जीजी, उनकी घृणा पर मुझे कभी क्रोध नहीं आया। जब-जब उन्होंने मुझसे घृणा का व्यवहार किया, मेरे मन में सदा दया उपजी। सदा जी हुआ, उनके पास जाऊँ, अपने प्यार से उनके घावों को भर दूँ। पर मैं जितना उनके निकट जाने की कोशिश करती रही, वे मुझसे दूर होते गये।"

और आशा के एक अज्ञात, अनदेखे तार में बँधी राज प्रतीक्षा करती रहती है। जब वह तार भी टूट जाता है तो हताश घर चली आती है। पर मदन से घृणा कर सकने की बात कभी उसके हृदय में नहीं आती। राज के इस सम्पूर्ण समर्पण के मूल में मदन की उस निर्मल भावना का हाथ है जो राज को दया की दृष्टि से देखती है। बार-बार मदन अपने उदासीन व्यवहार से खिन्न होकर राज से प्रेम कर लेना चाहता है, उसे अपना लेना चाहता है, पर नहीं कर पाता। वह झुंझला कर एक बार राज से कहता भी है—"न जानें तुम कौन सी मिट्टी की बनी हुई हो? तुम्हें स्वाभिमान छू भी नहीं गया। मैं तुमसे इतनी घृणा करता हूँ और तुम मेरे पाँव दबाना चाहती हो!"

पर यह मदन की अनुभूति का स्वर नहीं, उसके मानसिक द्वन्द्व की अग्नि में झुलसी हुई निश्वास भर है। शायद इसीलिए राज उससे घृणा नहीं कर पाती, उसके प्रति केवल दया की भावना से भर उठती है।

यही कारण है कि राज मदन के दूसरी शादी कर लेने के बाद और अपने पिता द्वारा मार-पीटकर आने के उपरान्त भी अपने देवतातुल्य ससुर की दयालुता और मदन के प्रति अमिट लगाव के कारण प्रेम के सनातन मार्ग पर चल देती है। उसका मात्र पातिव्रत धर्म ही उसे वापस लौटने के लिए प्रेरित करता है ? शायद नहीं, प्रेम की आदिम भावना ही उसकी शक्ति बन जाती है और वह रानी के दृष्टान्त को देखते हुए भी अविचलित, अप्रभावित रहकर असीम विश्वास से अपने रास्ते पर चली जाती है।

जिस स्तर पर रानी और राज का मनोविज्ञान संगठित हुआ है, उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राज किसी भी दशा में दूसरा विवाह करने की बात नहीं सोच सकती जबकि रानी के लिए वैसा करना असम्भव नहीं। रानी अपने अहं के प्रमाद में चाहे विवाह न करे, पर प्रतिशोध की भावना से जलकर कर भी सकती है। राज ऐसा नहीं कर सकती। हिन्दू विवाह प्रणाली में तलाक की सुविधा प्राप्त हो जाने से यह स्थिति आ सकती है, पर राज ऐसी नारी के लिए उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। रानी दोनों सम्भावित अवस्थाओं में से किसी भी एक अवस्था को चुन सकती है। यहाँ आकर भी अलग-अलग रास्ते अलग ही रहते हैं। और इस तरह नाटककार ने दो भावधाराओं को चरम तक पहुँचाकर उनके यथार्थ को उद्‌घाटित ही नहीं किया है, वरन् उनकी सम्भावित परिणति का संकेत देकर उनके वृत्त को भी पूर्ण कर दिया है।

चरित्र-चित्रण

नाटक की वस्तु को पूर्णतया प्रेषित करने और संक्रान्तिकालीन विचार-द्वन्द्व को उभार कर रखने में नाटक के पुरुष पात्रों का महत्वपूर्ण योग है। जिस आधार भूमि पर नाटक का ढाँचा खड़ा है, वह है पंडित ताराचन्द की परम्परानुगतता।

पंडित ताराचन्द—पुरातन विचारों के पोषक, संस्कार-ग्रस्त रूढ़िवादी तानाशाह हैं। वे लीक से हटकर चलने में विश्वास नहीं रखते और सारी परिस्थिति को अपनी तरह मोड़ लेने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। परिस्थिति को मनोनुकूल बनाने के लिए वे हर सम्भव और असम्भव उपाय काम में लाते नहीं हिचकते। वास्तव में पंडित ताराचन्द भीषण अहंवादी व्यक्ति हैं और साथ ही चालाक भी। उनका व्यक्तित्व तन कर खड़ा होना जानता है और प्रकृति से दबंग है। उनका चारित्रिक हठ उनके विश्वासों की दृढ़ता बन गया है, जिसके कारण वे नवीन का स्वागत नहीं कर पाते और अपने मिथ्या विश्वासों से चिमटे रहते हैं। सामाजिक पद, प्रतिष्ठा, कुल, शील और वंश का उन्हें अभिमान है, यह उचित भी है, पर उसके प्रति अतिशय आग्रह ही उनकी रूढ़िवादिता है।

वे नारी शिक्षा के पक्षपाती नहीं हैं और एम० ए० पास पूरन के सम्बन्ध में भी उनका यही विचार है—"आवश्यकता से अधिक शिक्षा ने लड़के का दिमाग़ ख़राब कर दिया है।" इसीलिए वे नये विचारों के पोषक पूरन को 'आवारा' कहते हैं और उसकी बातों को अग्राह्य, अनुचित और अधार्मिक समझते हैं।

अपने वर्ग की चतुराई भी उनमें पर्याप्त है और अपने को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की प्रवृत्ति भी। इसी प्रवृत्ति के कारण रानी का वैवाहिक जीवन असफल हो जाता है और वे उसे अपनी चतुराई के हथकण्डों से संभालते नज़र आते हैं। पर पुरातन विवाह संस्था के समर्थक होने के कारण वे बार-बार रानी को उसी नरक में वापस भेजने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, जहाँ से ऊब कर वह चली आयी है। उनके विचार से पति ही पत्नी का परमेश्वर है, वह जिस हाल में रखे उसी में रहना नारी का कर्त्तव्य है।

अपने अहं की रक्षा करते हुए त्रिलोक को राह पर ले आने के लिए वे शिवराम को सिखा-पढ़ाकर भेजते हैं और वे स्वयं इतने हिसाबी-किताबी आदमी हैं कि यह पता चल जाने पर कि रायबहादुर साहब के सारे मकान

गिरवी रखे हुए हैं, वे त्रिलोक को दहेज में मकान और मोटर इसलिए नहीं देते कि वह उससे कोई लाभ न उठा पायेगा। यहाँ पर भी उनके मनोविज्ञान में एक और परत है—वह यह कि वास्तव में वे मकान और मोटर का लोभ देकर विवाह सम्पन्न कर देना चाहते थे और फिर उस बात को टाल कर गोल कर जाना चाहते थे। किन्तु उनकी यह चाल कारगर नहीं होती और तब वे इस बात का सहारा लेते हैं कि उनके पुरखों को गालियाँ देने और रानी के साथ अत्याचार करने के कारण उनका 'मन बुझ गया है।' अब अपने खण्डित अहं को तुष्ट करने के लिए ही वे यह शर्त लगाते हैं कि त्रिलोक अपने घर से अलग हो जाय तो वे मोटर और मकान दे दें।

ताराचन्द अपने किये पर विचार तो कर लेते हैं, अपनी भूल भी समझ जाते हैं, पर अपनी उस सूझ को व्यवहार में लाने की बात जब आती है तो फिर ग़लती कर जाते हैं। वे जीवन के निष्कर्षों से लाभ नहीं उठा पाते। ताराचन्द में सनक भी है और आवेश के क्षणों में कुछ भी कर गुज़रने की वहशत भी। मदन की दूसरी शादी की बात सुनकर वे पुरोहित के लड़के की टाँग तोड़ आते हैं, अपने दमाद की टाँग वे इसलिए नहीं तोड़ते कि शायद वह राह पर आ जाय; न आये तो उसकी गर्दन तोड़ने में भी उन्हें आपत्ति नहीं।

पर उनके अहं का दायरा अपने तक ही सीमित है, उसके परितोष के लिए वे सब कुछ कर सकते हैं। उनका 'मैं' ही प्रमुख है। किसी और की लड़की के साथ यदि यह अत्याचार हो जाता जो राज के साथ हुआ है, तो शायद उनपर कोई असर न पड़ता, परन्तु उन्हीं के शब्दों में—"हो जाय भस्मीभूत! मुझे कोई चिन्ता नहीं। उस पाजी का यह दुस्साहस कि पंडित ताराचन्द की लड़की के ऊपर सौत लाये?"

उनके इस प्रचण्ड अहं में राज भी नहीं आती—'ताराचन्द की लड़की' का प्रश्न है। इसीलिए उनका यह निर्णय है कि जब तक वह वेश्या (सुदर्शना)

वहाँ है, राजो वहाँ कभी नहीं जा सकती। और मदन की जान शायद केवल इसीलिए बच जाती है कि उसके पिता पंडित उदयशंकर अपनी पगड़ी उतार कर उनके चरणों पर रख देते हैं।

जब बृजनाथ यह कहता है कि पंडित उदयशंकर इस समय भी राज को रखने के लिए तैयार हैं तो ताराचन्द उबल पड़ते हैं—"रखने के लिए तैयार हैं....क्या यह किसी घसियारे की लड़की है....किसी लुहार-सुनार की लड़की है....रखने के लिए तैयार है......"

यहाँ भी प्रश्न उनकी निजी प्रतिष्ठा और आत्मसम्मान का है, राज के दुख और यंत्रणा का नहीं। यह बात वे नहीं सह पाते कि मदन इस तरह उनके कुल का अपमान करे, क्योंकि कुल की मर्यादा और प्रतिष्ठा ही उनके लिए सर्वोपरि है। कुल का अपमान होते देखने के बदले वे बेटी को विष दे सकते हैं। वे नाश की सीमा तक जा सकते हैं। और पंडित उदयशंकर के पगड़ी उतार कर चरणों पर रख देने के बावजूद वे सहमत नहीं हो पाते और स्वयं राज के यह कहने पर कि मैं जाऊँगी पिता जी, वे चीख उठते हैं "......मेरी लड़की हर घड़ी अपनी सौत के मुँह की ओर देखे, ब्राह्मण की बेटी होकर एक अज्ञात कुलशीला की चिरौरी करे, यह मेरा और मेरे कुल का अपमान है!"

परन्तु पंडित उदयशंकर अपनी बातों से जब उनके अहं को तुष्ट कर देते हैं, निरीह होकर उनकी दया पर ही अपने को छोड़ देते हैं तो उनका 'मैं' सब कुछ स्वीकार कर लेता है।

उनके व्यक्तित्व का एक पक्ष और भी है जिसका उद्घाटन रानी के संदर्भ में होता है, वह है उनका रुढ़िवादी धार्मिक पक्ष। जब रानी अपनी ससुराल जाने से साफ़ इनकार कर देती है और लम्पट त्रिलोक के साथ समझौता करने को तैयार नहीं होती तो उनके भीतर जमे हुए संस्कार सहसा मुखर हो उठते हैं—"....तू नहीं जानती, अपने पति के विरुद्ध सपने में भी बुरी बात सोचना कितना बड़ा पाप है! तू नहीं जानती तूने एक ब्राह्मण

के घर जन्म लिया है, तुझे एक ब्राह्मण माँ ने पाला है, तू किसी चाण्डाल के घर उत्पन्न नहीं हुई !" और अपनी इसी रुढ़िवादी प्रवृत्ति और अहं के कारण वे अपने पुत्र और पुत्री को भी स्वीकार नहीं कर पाते और उनका अखण्ड अहं अपने क्रोध के पागलपन में अपने को निःसन्तान मान कर तृप्त हो जाता है।

ताराचन्द का यह पथरीला व्यक्तित्व ही वह भित्ति है जो पूरे नाटक के महल को अपने ऊपर साधे हैं, जो सारे घात-प्रतिघातों और विषम से विषम कठिनाइयों को सह कर भी अखण्डित खड़ा रहता है।

पूरन—इन्हीं पंडित ताराचन्द का पुत्र है, वही दृढ़ता उसमें भी है, पर वह नये मूल्यों और नवीन भावनाओं का प्रतीक है। वह नवयुग की विचारधारा का कट्टर समर्थक, अत्याचार, यंत्रणा और रुढ़ि का विरोधी, ऐसा युवक है जो आशा, प्रकाश और नयी चेतना से परिपूरित है। वह हर जुल्म और ज्यादती से विद्रोह करता है, उसका स्वाभिमान उससे रेडियो की नौकरी छुड़वाता है, फरेब और झूठ में उसका दम घुटता है इसीलिए वह रेडियो की नौकरी छोड़ता है, चीफ़ एजेन्ट की नौकरी छोड़ता है; मिल की मैनेजरी इसलिए उसको छोड़नी पड़ती है कि मज़दूरों पर होने वाले जुल्म वह बर्दाश्त नहीं कर पाता—उसकी नस-नस में विद्रोह भरा है और वह शक्ति भर अत्याचार का प्रतिकार करता है। वह नौकरियाँ छोड़-छोड़कर अपना विरोध प्रदर्शित करता रहा, क्योंकि उस हालत में और कुछ कर सकना उसकी शक्ति की सीमा के परे था। वह त्रिलोक से अपनी बहन रानी के सम्बन्ध में बात करना पसन्द नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि उस चालबाज़ी और लोभ की वृत्ति से वह समझौता नहीं कर पायेगा। इसीलिए वह रानी को उस नरक में ढकेले जाने का विरोध करता है और रानी को उसी स्वाभिमान की शिक्षा देता है, जिसका वह स्वयं बहुत बड़ा हिमायती है।

सामाजिक जीवन की प्रत्येक समस्या के प्रति उसका अपना निजी दृष्टिकोण है। वह परम्परागत चले आते गले-सड़े पुरातन के विरुद्ध है और वह उन मान्यताओं को अस्वीकार करता है जो उसकी बुद्धि और मस्तिष्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। उसके चरित्र की यही विशेषता है कि वह प्रत्येक बात को व्यापक रूप से देखने का आदी है। घर, परिवार, बहिन, पिता आदि के रिश्तों से वह दूर नहीं है पर क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर सोचता है। यही कारण है कि विपदा में घिरी राज के अश्रुमय जीवन को देखकर भी वह सच्चाई से मुँह नहीं मोड़ता? अन्य भाइयों की तरह वह राज के पति मदन को दोषी ठहरा सकता था, पर वह जानता है कि इसमें दोष उसके पिता का है और इसीलिए वह निःसंकोच और निर्भय होकर राज के सामने कह ही देता है—"तुम उन्हें नहीं समझ सकतीं और वे भी शायद तुम्हें नहीं समझ सकते। वे प्रोफ़ेसर हैं और वह (सुदर्शन) एम० ए०। दोनों एक दूसरे के स्वभाव को, एक दूसरे की आवश्यकताओं को समझते होंगे।"

यह सब कह सकने का साहस उसमें है और अपनी बहिनों के नष्ट-प्राय जीवन के प्रति असीम वेदना भी उसके हृदय में है, पर वह संकुचित मानस का व्यक्ति नहीं है। वह अपनी बहिनों की विपदा में नारी मात्र की विपत्ति का अनुमान करता है और पुरुषों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों के प्रति अत्यन्त कटु होकर प्रहार करता है। वह पुरुष चाहे पिता के रूप में हो या पति के। उसकी समवेदना और सहानुभूति पीड़ित की ओर ही है। पुरुष वर्ग द्वारा नारी वर्ग पर किये जाने वाले अत्याचारों को देखकर वह क्षोभ से भर उठता है। वह नारी की परवशता के लिए पुरुषमात्र को दोषी मानता है। जब राज अपनी विपत्ति को भाग्य का विधान कहकर अपने को समझाती है तो वह उसकी निरीहता और भाग्यवादिता से कुढ़कर, अत्यन्त कटु होकर उसके इस भाग्यवादी दर्शन को तीखे व्यंग्य से काट फेंकता है और आधुनिक नारी की जागती हुई चेतना का प्रकाश उन तिल-तिल

जलती, अंधेरे में भकटती अपनी बहिनों तक पहुँचाता है जो उस अंधियारे से निकल सकने का मार्ग नहीं खोज पातीं।

वह स्पष्टवक्ता है, स्याह को स्याह और सफेद को सफेद कहने का आदी है। वह घृणित से घृणा ही करता है, झूठी सभ्यता और ऊपरी लीपा-पोती का वह कायल नहीं, इसका स्पष्ट उदाहरण तब मिल जाता है जब त्रिलोक रानी को लेने आता है। पूरन का दृष्टिकोण नकारात्मक ही नहीं है, वह प्राचीन संयुक्त परिवार व्यवस्था को व्यर्थ नहीं मानता, वह विरोध विरोध के लिए नहीं करता, वरन् तर्क और बुद्धि से सत्य को पकड़ता है। उसकी आत्मशक्ति उसे रानी को साथ ले चलने की और जीवन गढ़ सकने की प्रेरणा देती है और वह अत्याचारी पुरुष जाति से स्त्री के स्वाभिमान की रक्षा के लिए रानी को लेकर घर छोड़ देता है।

पूरन का विद्रोह केवल विध्वंस के लिए नहीं है। उसके विद्रोह में निर्माण का संकेत है। पूरन आज के बुद्धिवादी यौवन का प्रतीक है जो नये स्वर और नये निर्माण का द्योतक है। सम्भवतः नाटककार के दृष्टिकोण का वाहन पूरन ही है और उसी के स्वर द्वारा नाटककार के दर्शन को वाणी मिली है।

त्रिलोक—लम्पट और धूर्त है जो केवल पैसे, मकान और मोटर के लोभ के कारण पंडित ताराचन्द की पुत्री रानी से विवाह कर लेता है। वह रायबहादुर का बेटा है, और जैसा कि सामान्यतया होता है, रईसों की सन्तानें बिगड़ जाती हैं। उसी बिगड़ी हुई मशीनरी का वह भी एक पुर्जा है जो ऊपरी चमक-दमक, दिखावे और धूर्तता में विश्वास रखता है। वह पैसे की संस्कृति में पला है। पैसा ही उसके लिए सब कुछ है। मानवीय संवेदनाओं और नैतिक आदर्शों से उसका परिचय नहीं। नारी की कोमल भावनाओं और जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों की उसके लिए कोई महत्ता नहीं। वह उस खोखले वर्ग का प्रतीक है, जिसकी नींव पोली हो चुकी है और जिसके भवन के मीनार किसी भी झोंके से धराशायी हो सकते हैं, जो

वर्ग केवल झूठी प्रतिष्ठा और ऊपरी दिखावे के बल पर जी रहा है। इसीलिए दहेज न लाने के कारण वह रानी को छोड़ देता है और फिर दहेज पा सकने के लालच में अपना परिवार तक छोड़कर पृथक गृहस्थी बसाने के लिए तैयार हो जाता है। पर त्रिलोक ऐसे चरित्र के लिए यह असम्भव नहीं कि वह दहेज हथियाने के लिए रानी को एक बार स्वीकार कर ले और फिर छोड़ दे, क्योंकि लोभ का पेट भर सकना तो सम्भव नहीं होता।

वह उस व्यावसायिक प्रवृत्ति का पुरुष है जो धन के लिए सब कुछ कर सकता है, नीच से नीच काम करने के लिए तैयार हो सकता है। अपने स्वाभिमान को तिलांजलि देकर कार्यसिद्धि के लिए पूरन और रानी की घृणा को भी स्वीकार करता है और सब कुछ समझते हुए भी अपने सम्मान को ताक पर रखकर निम्नतम स्तर तक उतर कर अपने लोभ का पेट भर सकने को उद्यत है। साथ ही उसकी चतुराई भी असीम है, पर वह सफल नहीं हो पाता। उसकी असफलता का कारण लोभ और अतिशय सयानापन है। वह स्वयं अपनी चतुराई और धूर्तता का शिकार हो जाता है। त्रिलोक ऐसे पात्र इधर-उधर न जाने कितने बिखरे पड़े हैं, जो जीवन की उदात्त भावनाओं से दूर एक झूठी और क्षणिक सृष्टि में भटक रहे हैं। त्रिलोक ऐसे पुरुष के लिए रानी ऐसी नारी ही चाहिए जो व्यावहारिकता में वह उदाहरण प्रस्तुत कर सके जिसके सामने उसका सारा असत्य उद्घाटित हो जाय।

मदन—इस नाटक का एक ऐसा पात्र है जो मंच पर आता ही नहीं, परन्तु उसका पूरा खाका अन्य पात्रों के वार्तालापों से खिंच जाता है। मदन सुशिक्षित, सभ्य और विचारों से दृढ़ पुरुष है। उसकी ट्रेजिडी सबसे भिन्न और उसका द्वन्द्व पूर्णतया मानसिक है। वह अनमेल विवाह का मारा हुआ ऐसा पुरुष है जिसका जीवन सहसा एक अनचाहे-अनदेखे मोड़ पर मुड़ गया है। वह सुदर्शना से प्रेम करता था और वह प्रेम इतना बढ़ चुका था कि

विवाह भी हो सकता था, पर पंडित घराने का लड़का एक विजातीय लड़की से शादी करे, यह घरवालों को स्वीकार न था। इसीलिए उसकी शादी राज से हो जाती है जो उसके स्तर तक नहीं पहुँचती। और तब वह ऐसी उलझन में फँस जाता है कि स्वयं अपनी जिन्दगी को ठीक रास्ते पर डालने की कोई तरकीब नहीं सोच पाता। वह संकोची प्रकृति का ईमानदार व्यक्ति है, उसका व्यक्तित्व लगभग कलाकार-सा है जो भावनाओं और सपनों की दुनिया में जीता है। राज विवाह के बाद उसके उदासीन व्यवहार के बावजूद उसे और चाहने लगती है और मदन भी स्वयं यही चाहता है कि वह राज को किसी तरह निभा ले जाय, परन्तु विवाह के बाद सुदर्शना का उससे बार-बार मिलना उसकी मनःस्थिति को कभी सन्तुलित नहीं होने देता। वह भीषण मानसिक संघर्ष के बीच सभी बिगड़ी हुई स्थितियों को संभालने का प्रयत्न करता है। लेकिन वह राज को स्वीकार नहीं कर पाता और उससे दूर हटता जाता है। राज के यह कहने पर कि "आप जिसे चाहें प्यार करें पर मुझे न ठुकरायें"—वह दया से भरकर उसे प्यार कर लेना चाहता है, परन्तु भावनामय प्रेम नहीं दे पाता और जैसे स्वयं अपने पर खीझकर बाल नोचते-नोचते कह उठता है—"मैं कायर हूँ कायर, माता-पिता के भय से मैंने अपना और तुम्हारा जीवन नष्ट कर दिया....."

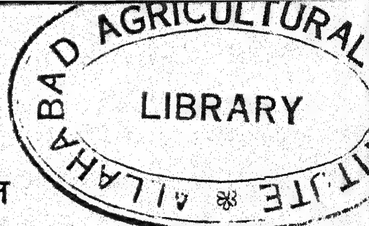
वह विवशता और कायरता से किये हुए अपने विवाह के प्रति ईमानदारी से सोचता है, पर उसका यह सोचना इस समस्या का कोई समाधान नहीं है। अपनी कुण्ठा को तोड़ फेंकने के लिए वह साहसपूर्ण कदम उठाता है और सुदर्शना से विवाह कर लेता है। उसका यह निर्णय केवल उसी के लिए श्रेयस्कर हो सकता है, व्यापक सामाजिक भूमि पर तभी महत्वपूर्ण हो पाता जब वह यही साहस उस समय दिखाता जब राज से उसका विवाह तय हुआ था। और तब वह निर्भय होकर सारी पारिवारिक मान्यताओं को एक ओर रखकर, सुदर्शना से विवाह कर, राज के जीवन को बचा लेता। परन्तु प्रस्तुत परिस्थितियों में अपने असन्तोष, कुण्ठा और मानसिक यंत्रणा से

छुटकारा पाने के लिए ही वह यह अप्रत्याशित कदम उठा जाता है। राज से विवाह करने की विवशता उसके लिए छोटी नहीं थी, उसकी माँ कुल और वंश की परम्परा दिखाती है और पिता उसकी पढ़ाई के निमित्त भेजे गये मनिआर्डरों की रसीदों का ढेर उसके सामने लगाकर और न जाने किस-किस तरह दबाव डालकर उसे यह रिश्ता स्वीकार करने के लिए मजबूर कर देते हैं। निम्न मध्यवर्गीय युवक के लिए यह घटनाएँ सामान्य हो गयी हैं और इससे त्राण पाने का यही एक रास्ता है कि वह साहस से काम ले। छोटी-छोटी भावुकताओं से ऊपर उठकर जीवन की वास्तविकता को प्रमुखता दे। मदन जो साहसिक कार्य करता है, यदि वह यही पहले कर लेता तो निश्चय ही अधिक उपयुक्त होता और एक उदाहरण प्रस्तुत कर सकता। मदन को लेखक की समवेदना मिली है। उसके चरित्र का चित्रण उसने सहानुभूति से किया है पर दूसरे अंक में रानी और पूरन के सम्वादों में रानी की आलोचना भी लेखक ही की आलोचना है और मदन के चरित्र की दुर्बलता की ओर संकेत करती है। पूरन यदि मध्यवर्ग के निर्भय युवक का प्रतीक है तो मदन भीरु का, जो परिस्थितियों के प्रबल थपेड़ों से अपनी भीरुता छोड़ साहसपूर्ण कदम उठाने को विवश है।

पंडित उदयशंकर—एक निरीह व्यक्ति हैं। ताराचन्द के प्रतिष्ठित घराने से रिश्ता हो जाने पर वे अपने को अनुगृहीत महसूस करते हैं। मंच पर वे केवल कुछ क्षणों के लिए ही आते हैं परन्तु इनके चरित्र की विनयशीलता, उदारहृदयता और निरीहता उनकी एक ही बात से मुखर हो उठती है। प्रचलित परिपाटी की मान्यता से भी वे कुछ दूर ही दिखायी पड़ते हैं। कोई भी लड़के वाला, चाहे वह कितना ही निर्धन क्यों न हो, लड़की वाले के सामने सामान्यतः इस तरह गिड़गिड़ाता नहीं दिखायी पड़ता, पर पंडित उदयशंकर अपनी पगड़ी उतार कर पंडित ताराचन्द के चरणों पर रख देते हैं। उदयशंकर सचमुच अपनी औकात नहीं भूलते और मदन के दूसरे विवाह कर लेने पर अपने को दोषी भी समझते हैं। वास्तव में वे मदन

के इस कार्य से अपना सिर नीचा पाते हैं, क्योंकि वे मानवीय नैतिकता में विश्वास रखते हैं। उनकी यह आदर्शवादिता ही राज को फिर घर वापस ले जाने के लिए विवश करती है और वे अपनी दयालुता, ईमानदारी और विनय-शीलता से राज के हृदय को जीत लेते हैं। यदि स्वभाव से पं० उदयशंकर इतने दयालु और शान्त न होते तो लाख प्रेम करने पर भी राज अपनी ससुराल जाने की हिम्मत न करती। वे राज को बेटी से बढ़कर मानते हैं और उसके प्रति अपना उत्तरदायित्व अनुभव करते हैं। मूलतः पं० उदयशंकर भी पुरानी लीक पर चलने वाले व्यक्ति हैं, पर उनके चरित्र की निरीहता उन्हें कटु नहीं होने देती और उन्हें अनुदार कट्टरपंथी पंडितों की श्रेणी में जाने से बचा लेती है। जब पूरन राज के दूसरे विवाह की बात कहता है तो वे उसकी बात को नहीं सह पाते, पर वे धैर्यवान, शान्त पुरुष हैं, इसीलिए राज द्वारा मदन से विवाह तोड़ने की अनुमति माँग कर दूसरा विवाह कर सकने वाली बात पर वे शायद पूरन से सबसे कठोर बात यही कह पाते हैं—"आपको शर्म नहीं आती, अब ब्राह्मणों की बहू-बेटियाँ वेश्याएँ बनेंगी ?"

दूसरी शादी कर लेना उनके विचार से पतित हो जाना है। अपने पुरातन संस्कारों को लिए हुए भी वे हठी नहीं हैं, पर धर्मभीरु अवश्य हैं। उनकी यह भीरुता यदि एक ओर उन्हें शिष्ट प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर निर्बल! और पंडित उदयशंकर वास्तव में ऐसे ही शिष्ट और निर्बल पुरुष हैं जो मदन द्वारा दूसरा विवाह कर लेने पर अपनी निर्बलता के कारण कुछ कह नहीं पाते और नैतिकता के कारण ही राज को बेटी की तरह घर भी ले जाते हैं।



कला पक्ष

कला के दृष्टिकोण से 'अलग-अलग रास्ते' निश्चित रूप से प्रौढ़ कला-कृति है। नाटक में तेकनिक की सरलता को पा सकना ही बड़ा मुश्किल होता है। इस सरलता को प्राप्त करने के लिए व्यापक रंगमंचीय अनुभव की आवश्यकता है। 'अलग-अलग रास्ते' की भी बहुत बड़ी विशेषता इसकी तेकनिक की सरलता है। नाटक की कथा वस्तु को इस तरह प्रस्तुत करना कि उसका उद्देश्य और आत्मा सुरक्षित रहे तथा घटना संयोजन भी अयथार्थ-अवास्तविक न होने पावे—यही तेकनिक का गुण और उसकी सफलता है। फिर ऐसे नाटक जिनमें लेखक का मन्तव्य चरित्र और समस्या को उभारना होता है, और भी कठिन हो जाते हैं, क्योंकि तब उसे प्रत्येक दशा और प्रत्येक अंक की मनोरंजकता तथा नाटकीय सूक्ष्मताओं के प्रति विशेष रूप से सतर्क रहना पड़ता है। क्योंकि चमत्कारिक घटनाओं और उनके घात-प्रतिघात द्वारा दर्शक को उलझाये रखने की सम्भावना ऐसे नाटकों में नहीं होती।

कथानक—आज कथानक को वह महत्व प्राप्त नहीं जो चरित्र-चित्रण तथा मानव-मन में होने वाले संघर्ष की अभिव्यक्ति को। गढ़ी हुई कहानियाँ, जैसी कि पुराने नाटकों में होती थीं, आज के नाटक का गुण नहीं। आज का नाटक जीवन का प्रतिबिम्ब देता है और जीवन के निकट रहने से अकल्पित कथानक अथवा असम्भव चरित्रों का चित्रण नहीं करता वरन् हाड़-मांस के मानवों को उनके गुण-दोषों तथा मनोवेगों के साथ प्रस्तुत करता है। 'अलग-अलग रास्ते' में भी कथानक का अभाव है। नाटककार चरित्रों और समस्या को ही प्रधान मानकर चला है। इसलिए ऐसी परिस्थितियों का निर्माण—जिनमें विभिन्न पात्र अपने-अपने चरित्र की विशेषताओं के साथ उपस्थित हो सकें और नाटक की अन्तर्भूत समस्या भी अभिव्यक्त हो जाय—कर सकना और निभा ले जाना एक दुष्कर कार्य है। पर 'अलग-अलग रास्ते'

की यही सफलता है कि सारे चरित्रों को पूर्णता प्राप्त हो जाती है और अन्तर्भूत समस्या भी सम्पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाती है।

पहले अंक के आरम्भ में ही समस्या का उद्घाटन हो जाता है। उसके लिए नाटककार अपने कथानक को बढ़ाता भी नहीं। ताराचन्द और शिवराम के वार्तालाप से ही रानी के विषय में सूचना मिल जाती है और परिस्थिति भी खुल जाती है। पहले दृश्य में ही इतनी पकड़ है कि दर्शक की उत्सुकता जाग उठती है और शिवराम तथा ताराचन्द की बातचीत में उनके विश्वासों, संस्कारो और प्रकृति का आभास मिल जाता है। और आगे आने वाले चरित्रों और सम्भावित घटनाओं का सूत्र जुड़ने लगता है। पहले दृश्य में ताराचन्द का पानी मँगाना महज स्वाभाविकता की रक्षा के लिए नहीं है। उसके साथ नाटककार अपने अगले पात्रों और घटनाओं का आभास देता है और नाटक की यथार्थता के लिए भी उन्हें प्रस्तुत करता है। पानी मँगाने से एक तो पूरन के सम्बन्ध में सूचना मिलती है और उसके प्रति ताराचन्द के दृष्टिकोण का पता चलता है कि वे अपने पुत्र से खीझे हुए हैं। फिर रानी द्वारा पानी का गिलास ले जाते हुए ही शिवराम का यह कहना कि 'क्यों भाई, रानी के सम्बन्ध में क्या निर्णय किया तुमने', रानी के उस कथन की स्वाभाविकता की रक्षा करता है जो उन दोनों के चले जाने के बाद वह पूरन से कहती है कि पिता जी फिर मुझे उसी नरक में भेजने की सोच रहे हैं! शिवराम का उसी समय वह वाक्य कहना रानी को सचेत कर देता है कि उसके विषय में कुछ बात होने जा रही है और तभी नाटककार इस बात को दर्शकों के मानने योग्य बना सकता था कि रानी सचेत हो गयी थी और उन दोनों की बातें पीछे से सुनती रही है। यदि ऐसा न होता तो रानी पूरन को इस बात की सूचना न दे सकती और तब नाटक की प्रगति में बाधा पड़ती। यदि उस बाधा की चिन्ता न की जाती तो वह परिस्थिति निश्चय ही अस्वाभाविक और झूठी-झूठी-सी लगने लगती। ऐसी सूक्ष्मताएँ इस नाटक में स्थान-स्थान पर हैं। यही कारण है कि कोई भी पात्र अनायास नहीं आता,

कोई भी घटना चमत्कार की तरह नहीं घटित होती। प्रत्येक परिस्थिति और पात्र के लिए पहले से पीठिका प्रस्तुत है। प्रत्येक प्रवेश तथा प्रस्थान कार्य-कारण से जुड़ा है। स्वाभाविकता की रक्षा और यथार्थ का सृजन आज के नाटक की माँग है। इस नाटक में वातावरण और चरित्र, मनोविज्ञान-सम्मत पात्रों का क्रियाकलाप और घटनाओं का संयोजन यदि एक ओर स्वाभाविकता उत्पन्न करता है तो दूसरी ओर इसमें समस्या के यथार्थ की अभिव्यक्ति द्वारा सामाजिक सत्य की स्थापना भी होती है।

पहले अंक में ही राज का आख्यान भी आ जुड़ता है और इस तरह नाटक की कथावस्तु एक ही समस्या को लेकर घनीभूत होती जाती है और अधिक गम्भीर होकर दर्शक को बाँध लेती है तथा उसकी उत्सुकता को बढ़ाती जाती है।

पहले अंक की समाप्ति पर वातावरण गहन हो उठता है और कथानक में एक अजीब सी तेज़ी आ जाती है जिससे नाटक की समस्या की महत्ता को भी शक्ति मिलती है और दर्शक की उत्सुकता भी बढ़ जाती है। राज के जीवन की करुणा, रानी की दृढ़ता, पूरन की जागरूकता, पंडित ताराचन्द की सनक और क्रोध तथा परिस्थिति की विषमता और क्या-कुछ न घटित हो जाने की आशंका को लिये हुए पर्दा गिर जाता है। इतने सूत्रों के फैलने पर भी कहीं जटिलता नहीं आती—ऐसी जटिलता जिसे दर्शक समझ न पाये। इसीलिए उसमें घटना की सम्भावित परिणति के प्रति सहज उत्सुकता पैदा होती है और दर्शक का अब तक के सारे कथानक से साधारणीकरण हो जाता है।

दूसरा अंक व्यंग्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। जिसमें पूरन के माध्यम से वर्तमान नवीन चेतना और त्रिलोक के नीच चरित्र का पूर्ण चित्र सामने आ जाता है। साथ ही रानी का पीछे छूटता हुआ कथानक भी राज के साथ आ पहुँचता है और तब वह स्थल आ जाता है जहाँ दोनों की

समस्या एक स्तर पर आ जाती है। यदि इन दोनों में से एक भी सूत्र ढीला रह जाता या पिछड़ जाता तो तीसरे अंक की सार्थकता में निश्चय ही त्रुटि रह जाती। दूसरे अंक में त्रिलोक का नाटक से सम्बन्धित चरित्र पूर्णता प्राप्त कर लेता है। त्रिलोक और उसके मित्र वाला प्रसंग नाटककार ने निश्चय ही त्रिलोक के चरित्र को पूर्ण कर देने के लिए जोड़ा है। नहीं तो दूसरे अंक की समाप्ति इस प्रसंग से पहले ही हो सकती थी।

तीसरा अंक बड़ी तेजी से समाप्ति की ओर बढ़ता है। रंगमंच के पीछे होने वाली घटनाओं की सूचना देता, चरित्रों को और भी अधिक निखारता और पूर्ण करता तथा समस्या की ट्रेजिडी को खोलता और उसका समाधान प्रस्तुत करता, बड़ी ही नाटकीयता से इस अंक का अन्त हो जाता है। इस अन्त तक पहुँचते-पहुँचते चरित्र, घटना और समस्या भी चरम पर पहुँच जाती है। नाटक के सारे सूत्र पूरे तनाव के साथ एक बिन्दु पर आ मिलते हैं। पुराने संस्कार और परम्पराएँ, नयी चेतना और शक्ति, प्रेम का समर्पण और नारी का विद्रोह, विध्वंस और निर्माण—सभी साकार होकर इस नाटकीय अन्त की संयोजना करते हैं और पर्दा गिर जाता है। अन्तिम क्षण की सघनता अपनी तरह की अनोखी है। यह नाटकीय अन्त पुराने नाटककारों—आग़ा हश्र या बेताब के नाटकों के अन्त की तरह टेबले सरीखा है। अन्तर यही है कि जहाँ पुराने नाटकों के नाटकीय अंत अस्वाभाविक होते थे, वहाँ यह नाटकीय होते हुए पूर्णतः स्वाभाविक है। इसीलिए चरित्रों, समस्या आदि को और भी प्रखर और प्रबल बना देता है। अंत में नाटककार का मन्तव्य पूर्ण हो जाता है और नाटकीय तेकनिक भी सार्थकता प्राप्त कर लेती है—यही इस नाटक की सफलता है।

नाटक में कथानक का अभाव है, पर यह अभाव आज साहित्य के सभी अंगों में दिखायी पड़ रहा है क्योंकि आज का साहित्य कोरे चमत्कार या अकल्पित उपलब्धि का मनोरंजक विवरण मात्र नहीं; वह अपने समय के अधिक निकट खिसक आया है। हाँ, प्राचीन साहित्य की तरह उसका लक्ष्य

भी मानव और मानव-कल्याण की भावना ही है। मानव के अध्ययन को ही अपना विषय बनाने के कारण उसकी समस्याओं, उसके समाज, उसके मनोभाव और उसका चरित्र ही आज के साहित्यकार का मुख्य विषय है।

इस नाटक में इतने चरित्रों और गम्भीर सामाजिक समस्या को रखकर भी जितनी सादगी से व्यक्त कर दिया गया है वह अपने में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। सरलता—जो कठिन परिश्रम से प्राप्त होती है, इस नाटक का एक बड़ा गुण है और जटिलता का अभाव ही इसकी तेक्नीक की चरम सफलता है।

भाषा—'अलग-अलग रास्ते' की भाषा नाटक की एक बड़ी शक्ति है। 'जय पराजय', 'कैद', 'उड़ान', 'भँवर' आदि—अश्क जी के अन्य नाटकों की तुलना में प्रस्तुत नाटक की भाषा में अपूर्व प्रवाह, सरलता तथा बोधगम्यता है। ऊपरी दृष्टि से देखने पर यह बात जितनी सरल दिखायी देती है, उतनी वास्तव में है नहीं। नाटक लिखने में अश्क जी ने लगभग दस वर्ष लगा दिये हैं। इस बीच में यह कई बार लिखा गया और स्वयं उन्हीं की देख-रेख में मंच पर भी प्रस्तुत किया गया। एक भी शब्द, वाक्य खण्ड अथवा वाक्य ऐसा नहीं जो बोला न जा सके। बोले जा सकने के इस गुण ने उसकी साहित्यिकता को कम नहीं किया, बढ़ाया ही है। इस सरल और बोधगम्य भाषा में मुहाविरे और लोकोक्तियाँ ऐसे नगीनों सी जड़ी हैं जो आँखों में अनायास नहीं खुबते वरन् अलंकार का अंग बन जाते हैं। हाँ, उनमें से एक को भी उखाड़ दिया जाय तो वह स्थल आँखों में खटकने लगता है—पीछे लगा रखना, भूख बड़ी होना, माथा फोड़ना, मुसीबत बुलाना, कोसों दूर होना, नाक पर मक्खी न बैठने देना आदि—बीसियों मुहाविरे नाटक के सम्वादों को अर्थ-गाम्भीर्य और ओज से भर देते हैं। और—सहज पके सो मीठा हो, जितना बड़ा पेट उतनी बड़ी भूख, आँख ओझल पहाड़ ओझल, जहाँ चार बर्तन होते हैं खनकते हैं, दर्द के डर से कोई नाक-कान छिदवाना तो नहीं छोड़ देती, मखा मारे ग़ाज़ी मियाँ मार खायें डफ़ाली, करे गंगाराम भरे जमुनादास,

नहीं बसी ससुराल, नसीहत दे सखियन को—जैसी लोकोक्तियाँ सम्वादों को तलवार की धार ऐसी तेज़ी प्रदान करती हैं।

मनुष्य के मनोभावों को व्यक्त करने के लिए भाषा ही एक माध्यम है और किसी नाटक में पात्रानुकूल भाषा का होना मुख्य आवश्यकता होती है। कहानी, उपन्यास आदि में लेखक वर्णनात्मक ढंग से किसी भी पात्र के मनोभावों को अपनी भाषा में रख सकता है, परन्तु नाटककार के लिए यह सम्भव नहीं। उसका प्रत्येक पात्र अपनी भाषा बोलता है और यहीं नाटककार की भाषा सम्बन्धी सामर्थ्य का पता चलता है।

'अलग-अलग रास्ते' के सभी पात्रों की भाषा उनके अनुकूल है। नाटक के सभी पात्र एक ही स्थान या प्रान्त के हैं, परन्तु उनकी बोल-चाल की भाषा की सूक्ष्म भिन्नता की ओर भी ध्यान देना आवश्यक होता है। ऊपरी तौर से तो पात्रों की भाषा में बहुत अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु लहजे और शब्दों के प्रयोग द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व पृथक कर देना भी बड़ी बात है। 'अलग-अलग रास्ते' का कोई भी पात्र अपने सम्वादों द्वारा पहचाना जा सकता है।

अपने सम्पूर्ण रूप में 'अलग-अलग रास्ते' एक उत्कृष्ट कलाकृति बन गया है, जिसकी सामाजिक उपादेयता निर्विवाद है और जो अपनी नाटकीय तेकनिक, शिल्प शैली आदि की प्रौढ़ता के कारण निश्चय ही हिन्दी नाटक साहित्य में एक महत्वपूर्ण योगदान है।





१९५३ में 'नीटा' प्रयाग द्वारा 'अलग-अलग रास्ते' का अभिनय

अलग-अलग रास्ते

अलग-अलग रास्ते पहली बार १९ दिसम्बर १९५३ को नीटा (नार्थ इंडियन थियेट्रीकल एसोसीएशन) द्वारा निम्नलिखित अभिनेताओं के साथ पैलेस थियेटर इलाहाबाद में अभिनीत हुआ।

पंडित ताराचन्द	विजय बोस
शिवराम	पी० सी० बेनर्जी
रानी	ललिता चटर्जी
पूरन	राज जोशी
सरदारीलाल	एस० एस० पाण्डेय (राजू)
राज	बिन्दु अग्रवाल
सन्तू	टी० सी० गौड़
बृजनाथ	के० बी० लाल
त्रिलोक	कौशल बिहारीलाल
बनवारी	सतीश जौहरी
पं० उदयशंकर	मनोज शर्मा
वृन्दाबन	अब्बास
बिजली पहलवान	वली उल्लाह
श्रीधर	विजय प्रताप

इस नाटक का निर्देशन श्री भारतभूषण अग्रवाल तथा श्री विजय बोस तथा संयोजन श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने किया।

नोटः—नाटक के अभिनय इत्यादि के सम्बन्ध में लेखक के मनोरंजक संस्मरण परिशिष्ट में देखिए।

पात्र

(जिस क्रम से कि वे नाटक में आते हैं)

ताराचन्द

शिवराम

रानी

पूरन

सरदारीलाल

राज

सन्तू

बृजनाथ

त्रिलोक

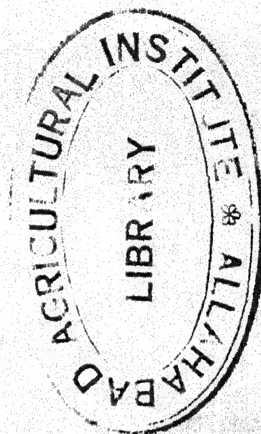
बनवारी

पंडित उदय शंकर

वृन्दाबन

बिजली पहलवान और उसके साथी

श्रीधर



स्थान

(पंडित ताराचन्द का ड्राइंग रूम)

समय

पहला अंक—इतवार को सुबह

दूसरा अंक—इतवार को दोपहर

तीसरा अंक—इतवार को शाम



पहला अंक

[पर्दा राय साहब पंडित ताराचन्द की बैठक में खुलता है। यह बैठक नये और पुराने का अद्भुत सम्मिलिन उपस्थित करती है, क्योंकि इसमें कौच भी लगे हैं, तिपाइयाँ भी रखी हैं और एक तख्त पर गाव-तकिया भी लगा है।

*बायीं दीवार में एक बड़ी खिड़की है जो सामने की दीवार के कोने तक चली गयी है। तख्त इसी के बराबर, कुछ ऐसे बिछा है कि उस पर लेटने वाले का चेहरा दर्शकों को दिखायी दे जाय। खिड़की पर पर्दा लटक रहा है, शायद पूरा नहीं खींचा गया, क्योंकि खिड़की का आधा भाग दिखायी दे रहा है, जिसके शीशों में से बाहर बगीचे के पेड़-पौधे दिखायी देते हैं।

†दायीं दीवार में भी एक वैसी ही खिड़की है, जिसके

*† अभिनेताओं की बायीं-दायीं

अधखुले पर्दे से चबूतरा और उसके परे बगीचा दिखायी देता है। खिड़की के इधर को एक दरवाज़ा है जो बाहर चबूतरे पर खुलता है। बाग से होकर बैठक में आने का यही एक रास्ता है।

सामने की दीवार के दायें कोने में एक दरवाज़ा है जो आँगन में खुलता है। दरवाज़ पर पर्दा लटक रहा है, किन्तु पर्दे के हटने पर आँगन और आँगन के परे बरामदे का एक भाग, पानी का नल और हौज़ साफ़ दिखायी देते हैं।

सामने दीवार के साथ कौच का सेट, तख्त से आँगन के दरवाज़े तक, इस ढंग से लगा है कि बायीं ओर के कौच पर बैठा हुआ व्यक्ति तख्त पर बैठे हुए आदमी से बड़ी आसानी से बातचीत कर सकता है।

दीवारों पर अवतारों के चित्र भी लगे हैं और महात्मा गांधी तथा पंडित जवाहरलाल के भी, लेकिन उनमें मार्क्स और लेनिन के चित्र न जाने किसने लगा दिये हैं? शायद पंडित जी के लड़के पूरन ने लगाये हैं और पंडित जी से उसने यह कह दिया है कि ये भी अवतारों ही की तस्वीरें हैं।

सुबह का समय है। खिड़की के शीशों से हलकी-हलकी धूप कमरे में आ रही है। पर्दा उठने पर पंडित ताराचन्द दर्शकों की ओर पीठ किये तख्त के पीछे खड़े खिड़की की रोशनी में समाचार-पत्र पढ़ रहे हैं। बैक-ग्राऊँड में रानी गाना सीख रही है। और सुबह की रागिनी में उस मीठे गाने के रसीले बोल कुछ पल को रंगमंच पर छाये रहते हैं। तभी शिवराम दायीं ओर से प्रवेश करते हैं। ताराचन्द को समाचार-पत्र पढ़ते देखते हैं, फिर टोपी और छड़ी मेज पर रखते हैं और नौकर को आवाज़ देते हैं:]

शिवराम : सन्तू, ज़रा पानी का एक गिलास लाना।

(अन्दर गाना थम जाता है। पंडित ताराचन्द मुड़ते हैं।)

ताराचन्द : आओ शिवराम, बैठो ! (आकर तख्त पर बैठते हुए रानी को आवाज़ देते हैं) रानी बेटा, एक गिलास पानी भिजवाओ......

(हुक्के की नय थाम कर एक लम्बा कश लेते हैं।)

रानी : (आँगन से) ला रही हूँ पिता जी !

(पं० ताराचन्द के निकट ही कौच पर बैठते हुए)

शिवराम : अरे भई कोई ऐसी जल्दी नहीं। इतनी दूर से पैदल चला आया, इसलिए कुछ प्यास सी लग रही है, पर ऐसी भी क्या मुसीबत है कि......

(रानी आँगन के दरवाज़े से पानी लिये हुए प्रवेश करती है।)

ताराचन्द : तुम लायी हो, वह सन्तू, शिब्बू कहाँ मर गये ?

रानी : जी सन्तू तरकारी लेने गया है और शिब्बू घर चला गया है। उसकी पत्नी सख्त बीमार है।

ताराचन्द : किसने छुट्टी दी उसे ?

रानी : पूरन भय्या ने उसे भेज दिया।

ताराचन्द : यह पूरन जो न करे थोड़ा है।

(रानी बढ़ कर गिलास शिवराम को देती है।)

रानी : लीजिए चाचा जी !

शिवराम : (गिलास लेते हुए) जीती रहो बेटा !

[वो एक घूँट पीकर गिलास तिपाई पर रखते हैं। रानी गिलास उठाने लगती है।]

शिवराम : नहीं, नहीं, अभी गिलास ले जाने की आवश्यकता नहीं। मैं अभी और पीऊँगा। धीरे-धीरे पीने का स्वभाव है मेरा। (रानो के कंधे को थपथपाते हुए हँसते हैं।) जल्दी का काम शैतान का होता है और शैतान के कामों को मैं पसन्द नहीं करता।

(रानी गिलास फिर तिपाई पर रखती हुई मुस्कराती है।)

ताराचन्द : (हुक्के की नय छोड़ कर) भगवान तुम्हारा भला करे! यहीं हम लोग युवकों को मात दे देते हैं। 'सहज पके सो मीठा हो!' में हमारा विश्वास है, पर आज के नवयुवकों में उतना संतोष कहाँ? कच्चा-खट्टा उन्हें पसन्द, पर पकने की बाट वे नहीं देख सकते।

(फिर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।)

शिवराम : हम तो भाई बरमे हैं बरमे! जहाँ बैठ जाते हैं आर-पार छेद कर देते हैं। आज के युवक ठहरे मुड़े मुँह की कीलें। अव्वल तो धँस ही न पायेंगे। धँसने का प्रयास करेंगे तो लकड़ी फट जायगी।

ताराचन्द : (नय छोड़ कर अपने आप) बरमे! (हँसते हैं।) भगवान तुम्हारा भला करे, क्या बात कही है तुमने!

(रानी हँसती है।)

— : (कद्रे चिढ़ कर) तुम गिलास के लिए क्यों खड़ी हो? सन्तू ले जायगा!

(रानी जाती है। ताराचन्द हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।)

शिवराम : क्यों भई, रानी के सम्बन्ध में क्या निर्णय किया तुमने? बेचारी आधी भी नहीं रही।

ताराचन्द : रानो ही के दुख की दवा कर रहा हूँ, शिवराम! अपनी

ओर से मैं इस बात का पूरा ध्यान रखता हूँ कि उसे किसी तरह का कष्ट न हो। (हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।) उसने कालेज में प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट की और यद्यपि मैं लड़कियों की शिक्षा को उतना पसन्द नहीं करता, किन्तु पूरन के ज़ोर देने पर और इस बात का विचार करके कि रानी को अपना दुख हर समय खलेगा, मैंने इनकार नहीं किया। फिर सूरदास हरिराम को उसे गाना सिखाने को भी लगा दिया। (फिर हुक्के का लम्बा कश लेकर किंचित भेद-भरे स्वर में) यही नहीं, मैं त्रिलोक की ओर से भी निराश नहीं हुआ। वृन्दाबन को उसके पीछे लगा रखा है और वह उसे राह पर लाने का भरसक प्रयत्न कर रहा है। (फिर हुक्का गुड़गुड़ाते और खाँसते हैं।) मैं जानता हूँ, अपनी सारी शिक्षा-दीक्षा, कला-कौशल और अपने सारे गुणों के रहते भी रानी विरह के इस लम्बे दुख को सहन न कर सकेगी।

(हुक्के का लम्बा कश लेते हैं।)

शिवराम : धन चोरी हो जाय, खो जाय, ताराचन्द, आदमी सन्तोष कर लेता है, पर पास होते हुए भी, अपना होते हुए भी, उसे हाथ लगाने की आज्ञा न हो, इस बात से जो यन्त्रणा होती है, उसे मन ही जानता है।

ताराचन्द : **(नय छोड़ कर)** भगवान तुम्हारा भला करे! **(फिर हुक्के का लम्बा कश लेते हैं।)** इसलिए मैं इस जतन में हूँ कि त्रिलोक स्वयं आ कर उसे ले जाय और मान से रखे।

शिवराम : क्या कहता है त्रिलोक ?

ताराचन्द : अभी तो कोई सुन-गुन ही नहीं देता। बात वास्तव में कुछ बिगड़ गयी है शिवराम, उसे बनाने के लिए समझदारी और समय दोनों की आवश्यकता है। बरमा ही चाहिए, जो धीरे-धीरे, लेकिन स्थिर गति से, उसके मस्तिष्क में छेद करके उसे यह समझा दे कि जो ढंग उन लोगों ने अपनाया है, वह ठीक नहीं। मैं रानो को घर बैठाना नहीं चाहता, पर उसे और उसके साथ अपने वंश को आठों पहर अपमानित होते भी नहीं देख सकता।

शिवराम : अपमानित, किन्तु......

ताराचन्द : बात यह है शिवराम, कि इस विवाह से त्रिलोक को, त्रिलोक ही को नहीं, राय बहादुर पंडित कुंजबिहारी को भी बड़ी आशाएँ थीं।

शिवराम : आशाएँ?

ताराचन्द : उन्हें आशा थी कि मैं दहेज़ में अपना कचहरी रोड वाला मकान और मोटर अवश्य दूंगा। लेकिन मकान छोड़ जब उन्हें मोटर भी न मिली......

[पूरन बाहर चबूतरे पर दिखायी देता है। क्षण भर के लिए खिड़की में से भीतर झाँकता है, फिर ड्राइंग रूम की ओर आता है।]

शिवराम : लेकिन उन्हें मकान और मोटर की क्या ज़रूरत है? उनके अपना मकान है, और मोटर भी है।

ताराचन्द : अरे भई, जितना बड़ा पेट उतनी बड़ी भूख! और फिर त्रिलोक के अतिरिक्त राय बहादुर के पाँच और बेटे भी

तो हैं। बाँटने पर शायद किसी मकान की बैठक और मोटर का कोई पुर्जा ही उसके हाथ लगे।

[पूरन कमरे में आता है, लेकिन दोनों को बातों में निमग्न देख कर पल भर के लिए चौखटे में खड़ा सुनता है।]

शिवराम : क्या कहते हो, उनके तो इतने मकान हैं !

ताराचन्द : सब गिरवी रखे हुए हैं। मुझे तो पता ही न चला, नहीं मैं कभी रानी का विवाह वहाँ न करता।

पूरन : (हँसता है) इस बात का पता चल जाता तो कोई और बात पर्दे में रह जाती। ब्याह तो आज-कल अँधेरे में तीर मारने के बराबर है। निशाने पर लग गया तो ठीक, नहीं हाथ से निकला तीर तो वापस आता नहीं। जब दोनों पक्ष झूठ बोलने में एक दूसरे से बाजी मारने पर तुले हों तो सच का पता पाना मुश्किल है।

ताराचन्द : (हुक्का गुड़गुड़ाना छोड़ कर तीक्ष्ण-कटु-स्वर में) कहाँ से आये हो, पूरन, आवारागर्दी करके ?

पूरन : आवारागर्दी में ठौर-ठिकाना कहाँ ? सभी जगह घूमता आया हूँ।

ताराचन्द : तुम्हें कभी तमीज से बात करनी भी आयेगी ? (शिवराम से) और शिवराम, तुम कहते थे, बच्चों को जितना हो सके पढ़ाना चाहिए। ये महाशय एम० ए० हैं और सुनता हूँ, अपनी कक्षा में प्रथम रहे थे। पूछो, क्या करते हैं ? (मुँह बना कर) आवारागर्दी !

पूरन : तो आखिर आप ही कहें, क्या करूँ ?

ताराचन्द : (गरज कर) मैं कहूँ ? मेरे कहने से क्या होता है ?

(शिवराम से) मैं इसके लिए कितने मित्रों के सामने बुरा नहीं बना शिवराम ! रायसाहब गनीमत राय की सिफ़ारिश से आल-इंडिया रेडियो में पी० ई० बनवा दिया (नकल उतारते हुए) "मुझे यह क्लर्की पसन्द नहीं !" बुरा सा मुँह बना कर यह महाशय वहाँ त्यागपत्र दे आये। लाला गुलज़ारी लाल की मिन्नतें करके उनकी फ़र्म में चीफ़ एजेंट नियुक्त करा दिया, चार दिन बाद वहाँ से छोड़ आये। पूछा—"क्यों ?" उत्तर मिला, "दिन भर झूठ बोलना पड़ता है !" पूछे कोई कि सत्यवादी हरिश्चन्द्र के अवतार तो बस तुम्हीं रह गये, शेष सारी दुनिया तो झूठ बोलती है।......सर सीताराम की मिल में मैनेजर की नौकरी दिलायी, सप्ताह भर से ज्यादा वहाँ नहीं टिके। पूछा "क्यों ?" पता चला—मज़दूरों पर अत्याचार इनसे सहन नहीं होता। (फिर पूरन से) अब तुम्हीं बताओ, तुम्हें और क्या करने को कहूँ ? सुबह कहाँ जाने को कहा था, कुछ याद है ?

पूरन : मैं उनसे बात करना भी अपना अपमान समझता हूँ।

ताराचन्द : लाट है न हिन्दुस्तान का तू (मुँह चिढ़ाते हुए) बात करना भी अपमान समझता है। बहिन का सारा जीवन संकट में है और भाई महाशय हैं कि उसके पति से बात तक करना अपमान समझते हैं।

पूरन : मैं जानता हूँ, उनके साथ बहिन का जीवन......

ताराचन्द : (और भी गरज कर) चुप रहो और अपना यह दर्शन अपने पास रखो !

रानी : (आँगन से) पूरन भय्या, ज़रा इधर आना, यह ट्रंक ज़रा नीचे उतरवाना, सन्तू तो आया नहीं।

पूरन : आया रानो !

(चला जाता है।)

ताराचन्द : आवश्यकता से अधिक शिक्षा ने लड़के का दिमाग ख़राब कर दिया है। मुझे डर है, कहीं यह अपने साथ रानो को भी न ले डूबे। स्त्री का स्थान उसके पति का घर है, शिवराम। माता-पिता के पास लड़की कै दिन तक रह सकती है ?

शिवराम : बड़े-बड़े राजा-महाराजा लड़कियों को अपने घर न बैठा सके ताराचन्द, फिर हम तुम किस खेत की मूली हैं ?

ताराचन्द : भगवान तुम्हारा भला करे ! (हुक्के का कश लगा कर) तुम्हीं कहो, रानी अपने घर न जायगी तो क्या जीवन भर यहाँ बैठी रहेगी ? मैं जो उसे शिक्षा दिला रहा हूँ, तो उसका कारण यह नहीं कि वह सारी उमर यहाँ बैठी रहे या कहीं पचास-साठ की नौकरी करे, बल्कि यह कि त्रिलोक के लिए यह बहाना करने का अवसर न रहे कि उसकी बीवी अनपढ़ है !

शिवराम : भले घरों की बहू-बेटियाँ कहीं नौकरी करती हैं !

ताराचन्द : भगवान तुम्हारा भला करे ! यह कम्बख़्त जो आज भाई बना फिरता है, कल यदि मेरी आँख बन्द हो जाय तो बात भी न पूछेगा। देखो शिवराम, इन लोगों के किये तो कुछ होगा नहीं। ये नादान छोकरे हैं, इन्हें इस बात

की समझ नहीं कि कौन सी बात करने की है और कौन सी नहीं। तुम्हें जो इतने सवेरे कष्ट दिया है तो इसलिए कि तुम स्वयं त्रिलोक से मिलो और उसे किसी न किसी तरह रानी को ले जाने पर राज़ी कर लो। त्रिलोक के पिता से किसी समय तुम्हारी गाढ़ी छनती थी। उस पर भी दबाव डालो। वे लोग मकान ही लेना चाहते हैं तो मैं अपना कचहरी वाला मकान त्रिलोक और रानी के नाम कर दूंगा। आखिर जमाई और बेटे में क्या अन्तर है? रानी अपने घर सुखी रहे, मैं और मकान बनवा लूंगा!

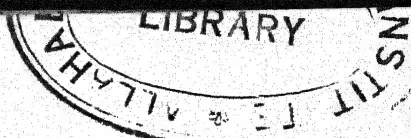
शिवराम : रानी से भी उसे कुछ शिकायत है क्या? मैंने सुना है......

ताराचन्द : अब तो दसियों शिकायतें हैं—वह पढ़ी-लिखी नहीं, सभ्य नहीं, सुन्दर नहीं, विनम्र नहीं, मुँहफट है, सास-ससुर का आदर नहीं करती और......

शिवराम : तुमने रानी को समझाया नहीं?

ताराचन्द : अरे भाई, जब वह पिछले साल रोती हुई आयी थी तो मैंने समझा-बुझा कर उसे वापस भेज दिया था, किन्तु सच पूछो तो जैसा मैंने कहा, रानी का इसके अतिरिक्त कोई दोष नहीं कि वह त्रिलोक और उसके घर वालों की आशा के अनुसार दहेज़ में एक मोटर और मकान नहीं ले गयी।

शिवराम : तुम्हें कैसे मालूम हुआ? हुई थी तुम्हारे सामने इस बात की चर्चा?



ताराचन्द : (हुक्का गुड़गुड़ा कर) अरे यह तो बुझ गया। (नौकर को आवाज़ देते हैं।) सन्तू, ओ सन्तू !

रानी : (दरवाज़े में झाँक कर) क्या बात है पिता जी ?

ताराचन्द : यह चिलम बुझ गयी, उससे कहना, ज़रा भर कर दे जाय !

रानी : वह तो अभी आया नहीं पिता जी, मैं आती हूँ।

(रानी आती है और चिलम ले जाती है।)

ताराचन्द : (रानी से) ज़रा तमाखू दबा के भरना। पूरन क्या कर रहा है ?

रानी : (जाते-जाते) बाहर चले गये हैं बगीचे में !

(चली जाती है।)

ताराचन्द : (शिवराम से) त्रिलोक ने मुझ से तो कभी कुछ नहीं कहा। मेरे सामने तो झिझकते-झिझकते उसने इन्हीं बातों की चर्चा की थी, किन्तु रानी ने ससुराल में अपने आरम्भिक दिनों के सम्बन्ध में जो कुछ बताया, उसी से मुझे पता चल गया कि वास्तव में दुखती रग कौन-सी है। शुरु-शुरु में त्रिलोक ने रानी को उसके पिता की कंजूसी के लिए कोसा और कहा कि उसे धोखा दिया गया है। उसे आशा दिलायी गयी थी कि एक मोटर और मकान दहेज में दिया जायगा।

शिवराम : हुई थी ऐसी बात ?

ताराचन्द : (ज़ोर देकर) कभी नहीं। मैं और परमानन्द त्रिलोक को देखने गये थे ; इस बात की चर्चा तक नहीं हुई। उस समय तो न इतनी पढ़ी-लिखी की आवश्यकता थी, न

सुन्दर की। मेरे सामने त्रिलोक ने स्पष्ट कहा कि मैं बहुत पढ़ी-लिखी लड़की पसन्द नहीं करता। बस, भले घर की ऐसी सरल और सुशील लड़की चाहिए जो मुझे घर का आराम दे सके। जब मैं शाम को कचहरी से थका-माँदा आऊँ तो मुझे लगे कि मैं घर आ गया हूँ। मुझे ऐसी पत्नी नहीं चाहिए, जो घर ही को कचहरी बनाये रखे—और मैंने उसे विश्वास दिलाया था कि वह रानी में यह सब गुण पायगा......अब परमानन्द ने अपनी ओर से उसे कोई सब्ज़बाग़ दिखाये हों तो मुझे पता नहीं।

(रानी चिलम लिये हुए आती है।)

रानी : यह लीजिए चिलम पिता जी, उपले की आग रख कर लायी हूँ।

ताराचन्द : (हुक्का गुड़गुड़ा कर) जीती रहो, बेटा ! (शिवराम से) लो शिवराम, पियो !

[रानी चली जाती है और शिवराम हुक्के के दो कश लगा कर नय ताराचंद की ओर कर देता है।]

शिवराम : किन्तु तुम्हारी इच्छा के बिना परमानन्द ने ऐसा क्यों किया होगा ?

ताराचन्द : कभी मेरा विचार था मोटर और मकान देने का, किन्तु भाई, मुझे राजी का विवाह भी तो करना था। रानी को मकान देता तो राजी को भी देता और फिर जब त्रिलोक और उसके पिता ने कहा कि हमें दहेज की कोई चिन्ता

नहीं, भगवान का दिया हमारे पास बहुत कुछ है, हम तो बस सरल और सुशील लड़की चाहिए तो मैं निश्चिन्त हो गया। फिर पूरन का भी ध्यान था। लाख आवारा हो, फिर भी मेरा लड़का है।

शिवराम : हाँ-हाँ, पूरन के लिए कुछ भी न छोड़ना बहुत बड़ा अन्याय होता। पढ़ा-लिखा लड़का है, कुटेव कोई नहीं, जिस दिन भी टिक कर बैठ गया, तुमसे दुगना कमा लेगा।

ताराचन्द : भगवान तुम्हारा भला करे! (**चुपचाप हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।**) मुझे क्या पता था कि त्रिलोक और उसके पिता ने जो कुछ कहा, वे सब ऊपर की बातें थीं। उनकी आँखें तो मोटर और मकान पर लगी थीं। ज्यों ही रानी घर गयी, उसे सुनना पड़ा कि वह एक कंजूस बाप की बेटी है। उसकी सास ने, उसके ससुर ने, उसकी जेठानियों और ननदों ने उसे दहेज़ की कमी के ताने दिये। त्रिलोक ने कई बार उन लड़कियों की चर्चा की जिनके पिता उसे कहीं अधिक दहेज़ देने को तैयार थे, या जो अधिक पढ़ी-लिखी, सभ्य-संस्कृत . . . . .

(**कॉल-बेल बज उठती है।**)

— : (**अपनी बात जारी रखते हुए**) सुन्दर, सुशील या विनम्र थीं।

(**कॉल-बेल फिर बजती है।**)

— : (**उच्च स्वर में**) अरे सन्तू, देख कौन है? बैठाना बाहर बरामदे में। (**शिवराम से**) वह कुछ भी

कहती या करती, उसे किसी न किसी लड़की या उसके सगे-सम्बन्धियों की बात सुननी पड़ती। उसे इतना तंग किया गया कि वह यहाँ आ गयी। तब मैंने उसे समझा-बुझा कर वापस भेज दिया। समझाया कि बेटी, पति जिस हाल में रखे, उसमें रहना चाहिए और ससुराल के दोष गिनने के बदले गुण ढूँढ़ने चाहिएँ। और मैं जानता हूँ, रानी ने अपनी ओर से किसी तरह की शिकायत का अवसर नहीं आने दिया। मुझे क्या पता था कि ब्राह्मणों के भेस में ये लोग भेड़िये हैं! (क्षण भर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, फिर धीमे, भेद भरे स्वर में) किन्तु शिवराम एक तरह यह अच्छा ही हुआ। मैं मकान और मोटर दहेज में दे देता तो इन सब बातों का पता कैसे चलता? भेड़ियों की उस माँद में रानो का तो खून सूख जाता। तुम त्रिलोक को समझाना कि यदि वह रानी को लेकर अलग हो जाय तो मैं मकान भी दे दूंगा और मोटर भी। सीधे यह सब न कहना। अपनी ओर से समझाना कि ताराचन्द ने कदाचित इसीलिए मकान नहीं दिया कि साझे में जायगा तो तुम्हारे हाथ कुछ न आयगा या कोई और बहाना बना देना। मकान-मोटर की मुझे चिन्ता नहीं, पर मैं नहीं चाहता, रानी भेड़ियों की उस माँद में रहे।

शिवराम : मैं सब समझता हूँ, मैं बड़ी चतुराई से बात चलाऊँगा और भगवान ने चाहा तो रानी आदर और सम्मान से अपने घर अलग रहेगी।

ताराचन्द : भगवान तुम्हारा भला करे......

पूरन : पिता जी, राय सरदारीलाल आये हैं।

ताराचन्द : (घबरा कर उठते हुए) तो उन्हें ले आये होते।

पूरन : जी उन्होंने कहा, "मैं यहीं बरामदे में बैठा हूँ, धूप बड़ी प्यारी लग रही है।"

शिवराम : (उठते हुए) अच्छा भाई, तो मैं चला। त्रिलोक से आज ही मिलने का प्रयत्न करूँगा।

ताराचन्द : अरे भई, चलो, तनिक धूप में बैठते हैं।

(शिवराम को साथ लिये चलते हैं।)

— : (जाते-जाते पूरन से) सन्तू आये तो हुक्का बाहर भिजवा देना पूरन !

पूरन : जी बहुत अच्छा।

[चले जाते हैं, रानी तेज-तेज आती है और भाई के गले लग जाती है।]

रानी : (अवरुद्ध कंठ से) पूरन !

पूरन : (उसकी पीठ थपथपाते हुए) क्यों रानी, क्या बात है ?

रानी : पिता जी मुझे फिर वहाँ भेजना चाहते हैं। तुम्हीं कहो, मैं क्या करूँगी वहाँ जा कर ? क्या इस तरह उनके लोभ का पेट भरने से मेरा घरेलू जीवन सुखी हो सकेगा ?

पूरन : तुम चिन्ता न करो, तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध तुम्हें कोई वहाँ नहीं भेज सकता।

रानी : (अवरुद्ध कंठ से) पूरन भय्या।

पूरन : (उसकी पीठ थपथपाते हुए) मैं कहता हूँ, तुम तनिक भी चिन्ता न करो !

रानी : पिता जी दूसरों से तो कुछ नहीं कहते, किन्तु मन में मुझे ही दोषी समझते हैं। (अचानक पूरन की आँखों में देखते हुए) पूरन क्या तुम भी मुझे ही दोषी समझते हो ?

पूरन : दोषी ? (जोर दे कर) कभी नहीं। मुझे तो इस बात का गर्व है कि तुमने अपने स्वाभिमान की रक्षा की।

रानी : मैं उस दम घोंटने वाले वातावरण में किस प्रकार रह सकती थी ? मुझे पिता जी का डर न होता तो मैं कभी की आ जाती। मुझे भय था, वे मुझे फिर उसी नरक में जाने को कहेंगे। पहली बार जब मैं आयी थी, तो जानते हो, उन्होंने कैसे आकाश सिर पर उठा लिया था ? उस समय मैं समझती थी, वे लोग अपनी भूल सुधार लेंगे, इसलिए मैंने पिता जी से सब बातें न कही थीं। किन्तु इस बार, सब कुछ बता देने पर भी, मेरी बात मान लेने पर भी, वे फिर मुझे उसी नरक में भेजने का यत्न कर रहे हैं।

पूरन : तुम किसी प्रकार कि चिन्ता न करो रानी ! पिता जी पति को पत्नी का परमेश्वर समझते हों तो समझें, मैं ऐसा नहीं समझता। पति मेरे निकट पत्नी का परमात्मा नहीं, उसका साथी है और उस साथ को निबाहने का सारा उत्तरदायित्व पत्नी पर ही नहीं, पति पर भी है।

[पंडित ताराचन्द और राय सरदारीलाल बातें करते हुए प्रवेश करते हैं।]

ताराचन्द : अद्‌भुत मौसम है यह भी, सरदारीलाल, धूप में बैठो तो गर्मी लगती है और छाया में बैठो तो ठंडक। (हँसते हैं।) अभी दो मिनट पहले धूप कितनी प्यारी लग रही थी, किन्तु इतने ही में सिर चकराने लगा। (पूरन से) तनिक सन्तू को भेजो पूरन, हुक्का ताज़ा कर जाय। और देखो बाहर कोई तुमसे मिलने आया है।

पूरन : जी!

(जाता है। रानी भी जाने लगती है।)

ताराचन्द : रानी बेटा, तुम्हारे चाचा आये हैं।

रानी : (मुड़ कर) चाचा जी प्रणाम।

सरदारीलाल : (बैठते हुए) जीती रहो, बेटी! सोहागवती बनो और अपने घर सुखी रहो!

(रानी लजाती हुई चली जाती है।)

ताराचन्द : (बैठते हुए) तुम ने देखा सरदारीलाल, रानो कितनी दुबली हो गयी है? पहले से आधी भी नहीं रही। जैसा मैंने कहा है, तुम एक बार वैसे ही कर देखो। यह जब तक यहाँ है, मैं और किसी काम में ध्यान नहीं लगा सकता।

सरदारीलाल : मैंने तुमसे कह दिया, मैं पूरा जतन करूँगा।

[सन्तू आता है और हुक्का उठा कर ले जाता है, सरदारीलाल तख्त के किनारे बैठते हैं।]

ताराचन्द : (कमरे में घूमते हुए) भगवान तुम्हारा भला करे! रानी जैसे मेरी बेटी है सरदारीलाल, वैसे ही तुम्हारी है। मैं तो सच, पछता रहा हूँ वहाँ इसका ब्याह करके,

पर जो हो चुका, हो चुका। मैं नहीं चाहता कि बात अब और बढ़े। किसी ने कहा है—आँख ओझल पहाड़ ओझल—दूर रहे तो दूर हो जायँगे। मैं जानता हूँ, त्रिलोक रानी को पसन्द करता है। ब्याह से पहले उसने उसे देख भी लिया था। उसे जिस बात की शिकायत है, वह मैं दूर कर दूंगा। मोटर और मकान ही की बात है, वह मैं दे दूंगा, मेरी बस एक ही इच्छा है......

सरदारीलाल : वह मैं समझता हूँ। इस में उसी का लाभ है। वह अलग हो जायगा तो सुख से रहेगा।

ताराचन्द : वास्तव में सारे झगड़े की जड़ तो यही बात है। मैंने जो मोटर और मकान नहीं दिये तो उसका एक बड़ा कारण यह भी था। जब मुझे रानो से पता चला कि उन्हें दहेज से निराशा हुई है तो मैं कचहरी वाला मकान और बड़ी फ़ोर्ड देने ही वाला था, पर तभी मुझे पता चल गया कि राय बहादुर के सभी मकान गिरवी पड़े हुए हैं। तब मैंने सोचा कि इस मामले में जल्दी न करनी चाहिए। जिसकी भूख इतनी बड़ी हो उसे एक कौर से क्या होगा! मेरा मकान उन्हें कुछ सहारा चाहे देता, पर उनकी बिगड़ी साख तो न बना सकता था!

सरदारीलाल : तुमने दे दिया होता, उन्हें कुछ सहारा ही मिल जाता।

ताराचन्द : मैं दे देता, पर उन्होंने जिस प्रकार रानो को परेशान करना आरम्भ किया, मुझे और मेरे पुरखों को गालियाँ दीं, और जिस प्रकार रानी को घर से निकलने पर विवश कर दिया, उससे मेरा मन बुझ गया। मैंने निश्चय किया

कि मैं उस क्षण मकान और मोटर दूँगा, जब त्रिलोक भेड़ियों की उस मांद से अलग हो जायगा।

(राज उदास-उदास आती है।)

राज : (अपनी उदासी को छिपाने और हँसने की चेष्टा करते हुए) पिता जी प्रणाम, चाचा जी प्रणाम !

ताराचन्द : अरे राजो (मुड़ कर प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए) कहो बेटी प्रसन्न तो हो ?

सरदारीलाल : अच्छा भई, मैं चलता हूँ।

ताराचन्द : अरे भाई ठहरो ! मैं भी चलता हूँ तुम्हारे साथ ! कम से कम दरवाज़े तक तो पहुँचा आऊँ !

सरदारीलाल : (उठ कर) यह शिष्टाचार रहने दो !

ताराचन्द : तुमने राजो के प्रणाम का उत्तर नहीं दिया सरदारीलाल !

सरदारीलाल : (मुड़ कर) जीती रहो, जीती रहो, बेटी !

ताराचन्द : (राज के कंधे पर हाथ रख कर सरदारीलाल के साथ-साथ चलते हुए) राजो !

राज : जी पिता जी !

ताराचन्द : यह तुम इतनी दुबली क्यों हो गयी हो ?

राज : (दुख को दबाने और मुस्कुराने का प्रयास करते हुए) जी नहीं, मैं तो पहले से मोटी हो गयी हूँ।

ताराचन्द : (चलते-चलते क्षण भर रुक कर) तुम्हारा सामान कहाँ है ?

राज : ट्रंक है, सो बाहर बरामदे में पड़ा है।

ताराचन्द : मदन नहीं आया ?

राज : नहीं, मैं अपने देवर के साथ आयी हूँ ।

ताराचन्द : तो कहाँ है वह, साथ क्यों नहीं लायी ?

राज : जी उसे जल्दी थी। मुझे यहाँ छोड़ कर स्कूल चला गया है। जीजी कहाँ है ?

ताराचन्द : यहीं थी, शायद उधर आँगन में हो।

राज : और भय्या ?

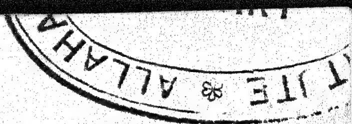
ताराचन्द : वह भी उधर बगीचे में होगा (उसकी पीठ को थपथपाते हुए) और तो सब प्रसन्न हैं, तुम्हारे सास-ससुर......

राज : (चलते-चलते लजा कर) जी !

ताराचन्द : (उसे छोड़कर सरदारीलाल के कंधे पर हाथ रख कर चलते हुए) बड़े भले हैं राजी के ससुर सरदारीलाल ! —सीधे-साधे, भोले-भाले, उदाराशय और धर्म परायण ! घमंड तो उन्हें छू भी नहीं गया। जब मैं पहले-पहल राजी के लिए उनसे मिला तो कहने लगे (रुक कर) हमें लेन-देन में विश्वास नहीं पंडित जी, हम तो आपको चाहते हैं। आप हमारे हो गये तो और क्या चाहिए ! (फिर चल पड़ते हैं।) मैं तो ऐसे ही लोगों को पसन्द करता हूँ। और भाई मैंने निश्चय कर लिया है कि त्रिलोक के नाम हो या न हो, पर मदन के नाम एक मकान अवश्य कर दूँगा। लड़का तो बेचारा गाय है।

(चबूतरे के दरवाजे से निकल जाते हैं।)

राज : (अपने पिता की अन्तिम बात सुन कर रुकती है, मुड़ कर, जाते हुए अपने पिता को देखती है। ओठों पर तिक्त, व्यंग्यमयी मुस्कान फैल जाती है।) बेचारा गाय !



[धम्म से वहीं आँगन के दरवाजे के पास कौच में धँस जाती है। सन्तू हुक्का ताज़ा कर के लाता है।]

सन्तू : अरे राजो ! कहो बेटी, कब आयी ?

राज : अभी आ रही हूँ, सन्तू !

(बाग के दरवाजे से पूरन भागा आता है।)

पूरन : हल्लो राजी !

राज : भय्या !

(पूरन के गले से लिपट जाती है।)

पूरन : पास से निकल गयी और मुझे देखा तक नहीं ! (जब उसके मुँह को देखता है तो चौंकता है।) अरे तुम तो पीली हो गयी हो, हल्दी खाती रही हो या (हँस कर) जीजा जी ने......?

राज : (पीड़ा-मिश्रित क्रोध से) भय्या !

पूरन : अच्छा-अच्छा भई, (पीठ थपथपाता है।) नाराज़ क्यों होती हो जीजा जी का नाम सुनकर ? हमारी लाल गोरी बहिन को ले के हल्दी सी पीली कर दिया और हम इतना भी न कहें कि......

राज : भय्या तुम कभी न मानोगे !

पूरन : अच्छा भई बिगड़ती क्यों हो ? (रानी को आवाज़ देता है।) रानो.....रानो देखो राजी आयी है। (सन्तू से, जो हुक्का रख कर जा रहा है।) सन्तू ज़रा रानी को भेज, और राज का ट्रंक उठा कर भीतर रख, बाहर बरामदे में पड़ा है।

सन्तू : (जाते-जाते) जी बहुत अच्छा !

(आँगन के दरवाज़े से रानी भागी आती है।)

रानी : (राज से गले मिलते हुए) अरे तू इधर बैठक में क्या गोबर गनेस बनी बैठी है। उधर क्यों नहीं चली आयी।

राज : पिता जी और चाचा सरदारीलाल बैठे थे, इसलिए !

(कॉल-बेल बज उठती है।)

पूरन : (असन्तोष से) यह छुट्टी का दिन अजीब झंझट का दिन हो जाता है। सुबह से जो कॉल-बेल बजनी शुरू होती है. . . .।

[कॉल-बेल फिर बजती है और पूरन "जी आया" कहता हुआ भागा जाता है।]

राज : (रानी के गले से चिमटती हुई अवरुद्ध कंठ से) जीजी ! [रानी उसकी पीठ थपथपाती है। राज धीरे-धीरे रोने लगती है।]

रानी : अरे ! . . . . . .बात क्या है ? . . . . .राजो ! . . . . क्यों ?

राज : (और भी चिमटते हुए) जीजी !

(और भी ज़ोर से सिसकने लगती है।)

रानी : क्यों राजो, क्या बात है ?

राज : (आँसू पोंछते हुए, तनिक सम्हल कर) बात क्या होगी, योंही तुम्हें देख कर मन भर आया। कहो त्रिलोक जीजा जी आये ?

रानी : (व्यंग्य से हँस कर) आ गये! तुम अपनी कहो, तुम्हें क्या दु:ख है?

राज : नहीं जीजी, मैं सुखी हूँ!

रानी : (हँसते और उसे साथ लिये रंगमंच के किनारे आते हुए) सुख की कोई झलक तो तुम्हारे मुख पर दिखायी नहीं देती! (दोनों हाथ उसके कन्धों पर रख देती है।) देखो राजो, मुझसे न छिपाओ, मैं सब भुगते बैठी हूँ।

राज : कुछ भी तो नहीं जीजी!

रानी : क्या यह सब तुम मेरी ओर देख कर कह सकती हो?

राज : (मुस्कराने की असफल चेष्टा करते हुए) क्या?

रानी : मुस्कान को पीड़ा में छिपाने का प्रयास न करो, राजो, तुम्हारी आँखें तो डबडबा रही हैं।

राज : (भरे हुए गले से) जीजी!

(सहसा रानी के गले से चिमट जाती है।)

रानी : (उसकी पीठ थपथपाते हुए दीर्घ-निश्वास भर कर) संसार भर में ब्याह स्त्री के लिए सुख-शान्ति का सन्देश लाता है, पर हमारी दासता के बन्धन इससे और भी कठोर हो जाते हैं। (राज सिसकती है।) बस-बस, दुख को दिल में न छिपाओ बहिन, घाव कर देता है। और कुछ समय बाद वही घाव नासूर बन जाता है। क्या सास तंग करती है?

राज : नहीं, वे बेचारी तो कभी कुछ नहीं कहतीं।

रानी : ससुर?

राज : वे तो देवता हैं।

रानी : ननदें ?

राज : वे न होतीं तो मैं अब तक समाप्त हो चुकी होती।

रानी : तो फिर......तो फिर तुम्हारे.....

(राज बहिन के गले से चिमट कर सिसकने लगती है।)

— : किन्तु प्रोफ़ेसर मदन तो पढ़े-लिखे आदमी हैं। क्या बात है, कह डालो।

(राज चुपचाप सिसके जाती है।)

— : मुझसे न कहोगी तो और किससे कहोगी ?...... (राज सिसके जाती है।)...... कुछ कहो भी। प्रोफ़ेसर साहब तो बड़े हँसमुख और रसीले आदमी हैं।

(उसे फिर ले जा कर कौच पर बैठा देती है।)

राज : (आँसू पोंछते हुए, धीरे-धीरे) सुनती हूँ, बड़े हँसमुख थे। ठहाके मारते थे तो मकान गूँज उठता था; पर मैंने कभी उनका ठहाका नहीं सुना। मुस्कराते हैं, पर उस मुस्कान में उल्लास का तो कहीं ढूँढे से भी पता नहीं चलता।

रानी : किन्तु वे तो......ब्याह में तो......

राज : एक दिन मैंने पूछा—"सुनती हूँ, आप खूब हँसते थे, ठहाके लगाते थे, मैंने तो एक भी नहीं सुना"—तब ठहाका मार कर हँस दिये—खाली, खोखला, नीरस ठहाका !

रानी : (समझने का प्रयास करते हुए) हूँ।

(स्वयं भी कौच के बाजू पर बैठ जाती है।)

राज : कभी हँस रहे होते और मैं चली जाती तो उनकी हँसी तत्काल बन्द हो जाती। काले-काले से मेघ उनके मुख पर घिर आते। फिर जो वे मुस्कराते भी तो उनकी वह मुस्कान, कहीं योजनों दूर से आने वाली, थकी-हारी परदेसिन सी दिखायी देती।

रानी : उन्होंने तुम्हें पसन्द नहीं किया!

राज : सुनती हूँ, किसी बहुत पढ़ी-लिखी लड़की से ब्याह करना चाहते थे, किन्तु एक तो उस लड़की के माता-पिता न थे, दूसरे वह ब्राह्मण न थी, इसलिए इनके माता-पिता तैयार न हुए। इन्होंने बहुतेरा समझाया, पर माँ ने उन सब कष्टों का वास्ता दिलाया, जो इन्हें पाल-पोस कर बड़ा करने में उसने सहे थे और पिता ने उन सब मनीआर्डरों की रसीदों का ढेर लगा दिया, जो इनकी शिक्षा के निमित्त वे हर महीने भेजते रहे थे। बारह हज़ार की रसीदें थीं और वे चाहते थे कि उनका लड़का उनकी इच्छानुसार विवाह करे।

रानी : (सव्यंग्य) और लोग माँ-बाप की ममता के गीत गाते हैं।

[उठ कर कमरे का एक चक्कर लगाती है और फिर उसके पास आकर बैठ जाती है।]

रानी : तो उन्होंने तुम्हें पसन्द नहीं किया!

राज : मैं क्या जानूं, जीजी! ऐसा लगता है, जैसे वे उस लड़की को भुला नहीं सके।

रानी : तुम उनका मन बहलातीं, उधर से हटाने का जतन करतीं।

राज : मैंने लाख जतन किये, पर असफल रही। उनके पास जाती तो ऐसे बैठे रहते, जैसे मुझसे कोसों दूर हों। बातें करते तो लगता, जैसे मुझसे नहीं, शून्य से बातें कर रहे हैं। लेटते तो ऐसे, जैसे बर्फ़ के पानी में नहा कर लेटे हैं।

रानी : (केवल दीर्घ-निश्वास लेती है।) हूँ......हूँ.....!

राज : हाँ, जब मैं रोती तो मुझे सान्त्वना देते, प्यार करते, कहते—तुम अभागी हो राज, मैं भी अभागा हूँ और दर्शनो भी......।

रानी : दर्शनो ?

राज : वही लड़की, जिससे ब्याह करना चाहते थे। पूरा नाम सुदर्शन है। एम० ए० है। उसने अभी उनका पीछा नहीं छोड़ा।

रानी : कैसी निर्लज्ज है !

राज : कभी जब मैं कहती—आप जिसे चाहें, प्यार करें, पर मुझे भी न ठुकरायें, तो मुझे बाहों में भींच लेते, पर स्पष्ट लगता, जैसे मन से नहीं, केवल मेरे रोने से विवश होकर प्यार करते हैं। और कभी इस तरह प्यार करते-करते अपने बाल नोचने लगते। कहते—मैं कायर हूँ, कायर। माता-पिता के भय से मैंने अपना और तुम्हारा जीवन नष्ट कर दिया। और फिर रोने लगते। उस समय जीजी, न जाने मेरे दिल को क्या होने लगता। मैं उन्हें बाहों में भर लेना चाहती। पर मेरे स्पर्श में तो जैसे हज़ार बिच्छुओं के डंक हों, वे हड़बड़ा कर उठ बैठते। मुझे परे हटा देते। पागलों की तरह चिल्ला उठते—तुम मुझसे क्यों चिमटती हो राज ? तुम्हें मुझको छोड़ कर चला जाना चाहिए,

तुम्हें मेरा कोई काम न करना चाहिए। (दीर्घ-निश्वास लेती है।) लेकिन जीजी, न जाने क्यों, जितना वे मुझसे भागने की कोशिश करते, उतना ही मैं उनके निकट होना चाहती !

रानी : (थकी-सी आकर उसके पास कौच पर बैठ जाती है।) तो अब वे तुम्हारे पास नहीं आते ?

राज : नहीं, कुछ दिन पहले तक लगातार आते थे, पर जब भी आते, ऐसा लगता जैसे बँधे-बँधे आये हैं।

रानी : (केवल लम्बी साँस भरती है।) हूँ !

राज : (अपनी बात जारी रखते हुए) एक दिन कहते थे— क्यों न हम अभी कुछ देर दो मित्रों की तरह रहें। धीरे-धीरे हम एक दूसरे को समझ जायँगे। एक दूसरे के गुण-दोषों को पहचान लेंगे। फिर हम पति-पत्नी की तरह रहेंगे — पति-पत्नी की तरह ऐसा जीवन जियेंगे, जिसका हर नया दिन थकान और उकताहट लाने के बदले स्नेह और उल्लास लायेगा।

रानी : तुम ऐसा ही कर लेतीं !

राज : मैंने प्रयास किया, पर तब सास जी ने कहा—तुम तो पगली हो। वह तुमसे दूर रहना चाहता है। उस पर उस चुड़ैल ने जादू कर रखा है। उसका मन उड़ता रहता है, बाँध कर न रखोगी तो उड़ जायगा और उड़ा हुआ पंछी फिर हाथ नहीं आता। मैंने उन्हीं का कहा माना। जैसे वे कहती रहीं, मैं करती रही, पर इस प्रयास में जो थोड़ा बहुत बन्धन था, वह भी टूट गया।

[रानी कुछ कहना चाहती है, पर नहीं कहती, क्षण भर दोनों चुप रहती हैं। राज उठ कर धीरे-धीरे कमरे में घूमने लगती है।]

— : ज्यों-ज्यों मैं उनके निकट जाने का प्रयास करती, वे मुझ से दूर भागते। दोपहर को उन्होंने घर आना छोड़ दिया। लंच कालेज ही मँगा लेते। साँझ को भी देर से आते। धीरे-धीरे यह देर बढ़ती गयी। बहुत रात गये घर आते और चुपचाप बिस्तर पर लेट जाते। मैं चाहती उनके पाँव दबाऊँ, उनके सुख-दुख की बात पूछूँ, पर मेरे तो स्पर्श से ही जैसे उन्हें भय आता—"मुझे मत छेड़ो, मुझे सोने दो !" यही कहा करते। मैं चुपचाप रोने लगती तो लपक कर उठ बैठते और घंटों आँगन में चक्कर लगाते। कभी चिढ़ कर कहते—"तुम जाने किस मिट्टी की बनी हुई हो ? तुम्हें स्वाभिमान छू भी नहीं गया। मैं तुमसे इतनी घृणा करता हूँ और तुम मेरे पाँव दबाना चाहती हो !"

(हताश-सी तख्त पर बैठ जाती है।)

रानी : (उठ खड़ी होती है।) मैं सोचती हूँ, तुमने यह सब कैसे सहा ! मैं तो बहुत पहले छोड़ कर चली जाती।

राज : न जाने क्यों जीजी, उनकी घृणा पर मुझे कभी क्रोध नहीं आया। जब-जब उन्होंने मुझसे घृणा का व्यवहार किया, मेरे मन में सदा दया उपजी। सदा जी हुआ, उनके पास जाऊँ, अपने प्यार से उनके घावों को भर दूँ। पर मैं जितना उनके निकट जाने की कोशिश करती रही, वे मुझसे दूर होते गये।

(कंठ अवरुद्ध हो जाता है और आँखों से आँसू बहने लगते हैं।)

रानी : (उसके पास बैठते और उसके कंधे पर प्यार का हाथ फेरते हुए) राजी!

राज : (उसी प्रकार रुँधे गले से) निरन्तर रोते-जागते मेरी यह दशा हो गयी। (सिसकी रोक कर) घर वालों से आँख मिलाने में मुझे लज्जा आने लगी। प्रतीत होने लगा, जैसे सब मुझे दया की दृष्टि से देखते हैं। जैसे उनकी यह दया धीरे-धीरे घृणा में बदल रही है।

रानी : मैं पूछती हूँ, तू पहले ही क्यों न चली आयी!

राज : आशा का एक अज्ञात-सा तार जो बँधा था जीजी!

[कुछ देर चुप रहती है। रानी चुपचाप शून्य में देखती घूमे जाती है। दाँत उसके भिंचे हुए हैं और लगता है, जैसे उसके मन में क्रोध का एक दुर्निवार बवण्डर उठ रहा है।]

— : परसों पता चला कि अब हॉस्टल ही में रहेंगे। सुपरिंटेंडेंट हो गये हैं। बस वह तार भी टूट गया। मैंने पत्र लिख कर उन्हें दो-तीन मिनट के लिए बुलवाया और कहा—मेरा मन यहाँ नहीं लगता, मुझे मैके भिजवा दो! कहने लगे —"हाँ, तुम कुछ दिनों के लिए मैके हो आओ।" और चुपचाप उन्होंने मेरी सब चीज़ें ट्रंक में भर दीं। एक छल्ला तक सास के पास न रहने दिया और छोटे भाई से कहा कि वह मुझे छोड़ आये। इसके बाद जैसे आये थे, वैसे चले गये। न उन्होंने मुझसे कुछ कहा और न मैंने ही उनसे कुछ पूछा।

रानी : सास ने रोका नहीं?

राज : उन्होंने बहुतेरा कहा। उनकी ओर देखती तो वहाँ से हिलने को जी न चाहता। मैं तो उनकी सेवा में जीवन भर पड़ी रहती, किन्तु वहाँ एक वे ही तो नहीं, दूसरे भी हैं और उन सब की आँखों का सामना करना मेरे बस की बात न थी।

रानी : (जिसका क्रोध शब्दों का रूप धर लेता है।) मैं पूछती हूँ, जब वे एक और लड़की को चाहते थे, तो उन्होंने क्यों की यहाँ शादी? वे तो पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं, प्रोफ़ेसर हैं। बच्चे नहीं कि उनके पिता ने दो चाँटे मार कर उन्हें ब्याह के मंडप पर बैठा दिया हो। क्यों की उन्होंने यह शादी?

राज : माता-पिता के उपकारों का बदला चुकाने के लिए।

रानी : (तिक्त व्यंग्य से) तो फिर उन उपकारों को इतनी जल्दी क्यों भूल गये?

राज : मैंने भी एक दिन पूछा था। कहने लगे—"मेरे लिए ब्याह करना आत्म-हत्या करना था। मैं सोचता था—मैं अपने भावों का गला घोंट दूंगा, अपने अतीत के लिए मर जाऊँगा, लेकिन मैं मर नहीं सका और जी भी नहीं सका। मैं पंगु हो गया हूँ। तुम उस मनुष्य की कल्पना करो, जो आत्म-हत्या करने के प्रयास में पंगु हो जाय!"

रानी : इतनी सज-धज से आये थे आत्म-हत्या करने!

राज : सज-धज उनके सगे-सम्बन्धियों के कारण थी।

रानी : इतना हँसते थे, ठहाके लगाते थे।

राज : वह सब तो दिखावा था, हृदय तो वे पीछे ही छोड़ आये थे।

रानी : (लगभग चिल्ला कर) पर तुम्हारे लिए उन्होंने क्या सोचा? तुम्हारा भी तो उन पर कुछ अधिकार है, तुम उनकी ब्याहता हो!

राज : एक दिन सास के कहने पर मैं उनके पास गयी थी। उदास, थके-थके से, वे बिस्तर पर लेटे हुए थे। मैंने हँस कर कहा—"दर्शनों की बात सोच रहे हो?" एक उदास सी मुस्कान उनके ओठों पर फैल गयी। मैंने कहा—"मेरा भी अधिकार है। मैं आपकी परिणीता हूँ। इतने बारातियों के सामने, यज्ञ की अग्नि को साक्षी करके, आप मुझे ब्याह लाये हैं!" कहने लगे—"तुम्हारे अधिकार की नींव एक सामाजिक प्रथा पर टिकी है। हृदय से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। सुदर्शन का अधिकार मेरे हृदय से सम्बन्ध रखता है। बारातियों, पंडितों, पुरोहितों ने, हमारे माता-पिता ने, यज्ञ की अग्नि ने हमें एक दूसरे के शरीर सौंप दिये हैं, हृदय तो नहीं सौंपे।"

रानी : यही तो मैं पूछती हूँ। यदि उनके हृदय पर किसी और का अधिकार था तो क्यों की उन्होंने शादी?

राज : कहते थे—"मैंने सोचा था मन की चौखट से दर्शनों का चित्र हटाकर तुम्हारा लगा लूंगा, किन्तु मैं सफल नहीं हो सका।"

रानी : कैसी निर्लज्ज लड़की है यह दर्शनो। जब उन्होंने उसका इतना अपमान करके तुमसे ब्याह कर लिया तो वह किस तरह उनका पीछा पकड़े है! मैं जीवन भर ऐसे आदमी का मुँह न देखती।

राज : कदाचित् वह अब भी उनसे प्रेम करती है।

रानी : मैं लाख प्रेम करती, पर उस अपमान के बाद, अपने स्वाभिमान को छोड़ कर, उनके पीछे यों मारी-मारी न फिरती।

(बृजनाथ और ताराचन्द बातें करते हुए प्रवेश करते हैं।)

ताराचन्द : तुम ज़रा बात कर देखो बृजनाथ। तुम उसके पिता के घनिष्ट मित्र हो। तुम्हारा वह बड़ा आदर करता है। तुम्हारी बात मानता है। रानी तुम्हारी भी तो बेटी है।

रानी : चलो आँगन में चलकर बैठें!

[दोनों चली जाती हैं, किन्तु नीचे के सम्वादों में कभी-कभी आँगन के पर्दे से लगकर बातें सुनती हैं।

ताराचन्द आकर तख्त पर बैठते हैं और बृजनाथ कौच पर।]

ताराचन्द : (हुक्का गुड़गुड़ा कर) यह चिलम तो बुझ गयी। सन्तू, ओ सन्तू!

सन्तू : (आँगन से) जी सरकार!

(भागा आता है।)

ताराचन्द : यह हुक्का नहीं ताज़ा किया तूने? चिलम तो एकदम ठंडी पड़ी है।

सन्तू : मैं तो ताजा करके रख गया था। सरकार ही चले गये थे। अभी लाता हूँ।

(चिलम लेकर चला जाता है।)

ताराचन्द : (खाली हुक्का गुड़गुड़ाते हुए) जब तुम्हें सब बातों का पता है बृजनाथ तो फिर क्यों नहीं कर देखते प्रयास? मैंने वृन्दाबन से कह रखा है, शिवराम, सरदारीलाल

और दूसरे मित्रों से भी कह रखा है। (भेद भरे स्वर में) मैं स्वयं उससे यह बात नहीं कर सकता। उसे जो शिकायत है, उसे मैं दूर करने को तैयार हूँ। किन्तु यदि मैं उससे पूछूँगा, तो वह इस शिकायत के अस्तित्व ही से इन्कार कर देगा। रानी को फिर से बसाने के लिए तुम युक्तियाँ तो दूसरी देना, लेकिन चतुराई से इस बात की ओर भी संकेत कर देना कि यदि वे दोनों अलग रहेंगे तो मैं अपना एक मकान उनके नाम कर दूँगा और कुछ समय बाद मोटर भी ले दूँगा। मेरी लड़की वहाँ आराम और आदर से रहे, यही मैं चाहता हूँ।

बृजनाथ : मैं कोशिश करूँगा।

ताराचन्द : (खाली हुक्का गुड़गुड़ा कर) तुम समझदारी से काम लोगे तो मुझे पूरा विश्वास है कि यह बिगड़ी हुई बात बन जायगी (और भी भेद भरे स्वर में) और फिर कचहरी में तुम्हारा जो प्रभाव है, उसे भी तुम काम में ला सकते हो। धमकी देना ही बहुत होगा। (और भी धीरे-धीरे) कहीं माँ या भाभी के कहने पर दूसरी शादी न कर ले, इसलिए जो भी करना है, जल्दी करना है। ये अनपढ़ भाभियाँ और मायें जो न करें थोड़ा है। त्रिलोक ज्यों-ही रानी को लेकर अलग हुआ, मैं मकान उसके नाम कर दूँगा। तुम्हारे इस प्रयत्न से यदि रानो का जीवन सँवर जाय तो वही नहीं, मैं भी उमर भर तुम्हारा आभार मानूँगा।

[सन्तू चिलम लाकर हुक्के पर रखता है। ताराचन्द हुक्के के लम्बे-लम्बे कश खींचते हैं।]

बृजनाथ : मैं पूरी कोशिश करूँगा, पर तुम्हें विश्वास है कि और कोई बात नहीं।

ताराचन्द : यों तो बीसियों हैं, किन्तु सब की तह में वही लोभ काम करता है। वह मानेगा नहीं, पर तुम चतुराई से काम लोगे तो वह राह पर आ जायगा।

बृजनाथ : मैं आज ही उससे मिलूंगा।

ताराचन्द : मुझे रानो के ब्याह में बड़ा कटु अनुभव हुआ बृजनाथ। अच्छे-अच्छे योग्य और बुद्धिमान लड़के मेरी आँखों के सामने आये, पर मैं इसी हठ पर अड़ा रहा कि लड़की अपने से बड़े घर में जाय। मैं क्या जानता था, बाहर से बड़े दिखायी देने वाले, भीतर से खोखले होते हैं।

बृजनाथ : मैं तो सदा ही से इस बात के पक्ष में हूँ कि घर की अपेक्षा लड़का देखा जाय!

ताराचन्द : (एक लम्बा कश लगा कर) राजी के लिए मैंने लड़का ही देखा है। मदन के पिता निपट निर्धन थे। गा-बजा कर, मुहल्ले-मुहल्ले रामायण और महाभारत की कथा करके उन्होंने अपने लड़के को शिक्षा दिलायी और उनका सारा श्रम और त्याग सफल हुआ। एम० ए० करते ही उसे कालेज में नौकरी मिल गयी। अब वह पी-एच० डी० की तैयारी कर रहा है। इतना समझदार, हँसमुख, भला लड़का है कि पल भर को जो उससे बातें करता है, उसके गुण गाने लगता है।

बृजनाथ : मुझे यह सुन कर बड़ी खुशी हुई कि राज इतने अच्छे घर ब्याही गयी।

ताराचन्द : (सोल्लास) मदन तो गाय है गाय ! राज तो वहाँ सचमुच राज करेगी !

[प्रसन्नता से हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं। शिवराम घबराया हुआ प्रवेश करता है ।]

शिवराम : ताराचन्द ! तुमने सुना, तुम्हारा जमाई दूसरी शादी कर रहा है !

[हुक्के की नली ताराचन्द के हाथ से छूट जाती है और वे उठने का प्रयास करते हैं।]

ताराचन्द : (आधे बैठे आधे उठे) कौन, त्रिलोक ?

शिवराम : नहीं मदन !

[ताराचन्द फिर धम्म से तख्त पर बैठ जाते हैं। आँगन के दरवाजे से लगी राज के गिरने और रानी के चीखने की आवाज आती है ।]

रानी : पिता जी. . .पिता जी. . . !

शिवराम : मैं कहता हूँ, तुम बैठ क्या गये हो ताराचन्द ? कुछ करना चाहते हो तो अभी कार ले कर चलो। 'खाई वालों की धर्मशाला' में हो रही है शादी। मुझे तो विष्णु पंडित से पता चला। उसका वह सिर-फिरा लड़का गया है ब्याह पढ़ाने।

ताराचन्द : (तत्काल उठ कर) सन्तू. . . . . .सन्तू. . . . . . !

(सन्तू भागा आता है।)

रानी : (आँगन से) पिता जी. . . . . .पिता जी. . . . . . !

ताराचन्द : कार ले कर जाओ और फ़ैक्टरी से बिजली पहलवान और

कुछ दूसरे मजदूरों को लेकर 'खाई वालों की धर्मशाला' में पहुँचो। मैं तुम्हारी कार में चलता हूँ शिवराम !

शिवराम : मैं तो पैदल ही भागा आया हूँ।

बृजनाथ : चलिए मैं आपको अपनी कार में ले चलता हूँ।

ताराचन्द : (चलते-चलते रुक कर) क्या यह विवाह मदन के पिता की इच्छा...... ?

शिवराम : (दोनों बाहों से उन्हें धकेलते हुए) चलो चलो, बताता हूँ।

(सब जल्दी-जल्दी निकल जाते हैं।)

रानी : (आँगन से) पिता जी...... पिता जी...... सन्तू...... सन्तू...... पूरन...... पूरन.... !

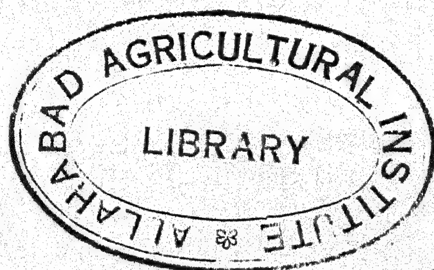
[आँगन से घबरायी हुई भागी आती है। पूरन बाघ की ओर से भागा आता है। दोनों टकराते-टकराते बचते हैं। एक दूसरे को थामते हैं।]

पूरन : क्या बात है ? क्या बात है ?

रानी : राज अचेत हो गयी है। देखो तो उसके दाँत पच्ची हो गये हैं।

(दोनों आँगन की ओर को भागते हैं।)

(पर्दा गिरता है।)



दूसरा अंक

[पर्दा कुछ क्षण बाद उसी कमरे में उठता है। निमिष भर बाद पूरन और रानी अचेत राजी को उठाये हुए आते हैं।]

पूरन : क्या हो गया इसे ?

रानी : बस खड़े-खड़े गिर पड़ी !

(उसे लाकर तख्त पर लिटा देते हैं।)

पूरन : घबराओ मत, लपक कर थोड़ा-सा पानी ले आओ।

(रानी जाती है।)

— : एक चमच भी लेती आना, (राज को हिलाते हुए) राजी......राजी......!

(राज विसुध है।)

— : राजी......राजी......!

[उठकर बिजली का पंखा चला देता है। रानी पानी लाती है।]

रानी : अरे, तुमने पंखा खोल दिया ? यहाँ तो पहले ही ठंड है !

पूरन : तुम चिन्ता न करो। पानी लाओ, इसके मुँह पर छींटे दूँ।

[रानी पानी देती है। पूरन राज के मुख पर छींटे मारता है।]

— : राजी......राजी......!

(राज पूर्ववत विसुध है।)

— : (फिर छींटे मारता है।) राजी......राजी....!

(राज हिलती नहीं, विसुध पड़ी रहती है।)

पूरन : ज़रा चमच दो।

रानी : मैं भूल गयी, अभी लायी।

(भाग जाती है।)

पूरन : (उसके बालों पर हाथ फेरते हुए) राज......राजी......और कहती थी मैं बड़ी प्रसन्न हूँ ससुराल में !

(रानी चमच ले आती है।)

रानी : यह लो चमच।

पूरन : तुम ज़रा इसकी नाक उँगलियों से दबाओ, मैं पानी का चमच मुँह में डालता हूँ।

(रानी राज की नाक दबाती है।)

— : (चमच भर कर मुँह में डालते हुए) यह हिस्टीरिया का दौरा है या कुछ और ? पहले तो कभी इसे यों मूर्च्छा न आयी थी।

रानी : दाँत पच्ची हैं, पानी तो बह गया सारा।

पूरन : तुम चिन्ता न करो, नाक दबाये रखो!

[रानी बहिन की नाक दबाये रहती है। साँस के रुक जाने से राज के दाँत खुल जाते हैं। पूरन पानी का चमच उसके मुँह में डालता है। कुछ क्षण बाद राज तेज़-तेज़ साँस लेती है। वह दूसरा चमच उसके मुँह में डालता है। अचेतावस्था में गरगराहट के साथ राज पानी पी जाती है।]

पूरन : (प्यार से) राजी......राजी......!

रानी : (प्यार से) राजो......राजो......!

[राज पूरी तरह तो होश में नहीं आती, किन्तु पहले उसका एक हाथ हिलता है, फिर उसकी आँखें खुल जाती हैं।]

पूरन : (प्यार से) राजो, क्या बात थी? चक्कर आ गया था?

[राज उठना चाहती है। पूरन बाँह के सहारे उसे उठा कर बैठा देता है।]

— : कामरेड बिहारी आ गये, मैं उनके साथ बातों में उलझ गया। बात क्या है? इतनी दुबली हो रही हो तुम। कभी शीशे में अपना मुँह नहीं देखा? खाने को नहीं देते रहे जीजा जी तुम्हें?

रानी : तुम्हारे जीजा जी दूसरा विवाह कर रहे हैं!

पूरन : क्या......कौन?

रानी : मदन!

पूरन : मदन ?

[चौंक कर उठ खड़ा होता है, सहारा हट जाने से राज फिर लेट जाती है।]

रानी : अभी चचा शिवराम ने बताया। 'खाई वालों की धर्म-शाला' में हो रहा है विवाह। चचा शिवराम और बृजनाथ के साथ पिता जी वहीं गये हैं।

पूरन : मुझे पहले ही डर था......मैंने पहले ही कहा था।

(हताश-भाव से जाकर कौच में धँस जाता है।)

रानी : एम० ए० पास लड़की है, जिसके न माता हैं न पिता।

पूरन : विवाह के लिए न माता की आवश्यकता है, न पिता की।

रानी : जाति से भी वह खत्री है।

पूरन : जाति का भी विवाह से कोई सम्बन्ध नहीं। (बेचैनी से उठता है।) उसके लिए संगिनि चाहिए जिसे अपने साथी की भावनाओं और विचारों से पूर्ण सहानुभूति हो। (क्षण भर चुपचाप घूमता है फिर) किससे शादी कर रहे हैं प्रोफ़ेसर साहब ?

रानी : कोई निर्लज्ज लड़की है, जिसे अपने मान-अपमान का तनिक भी ध्यान नहीं। प्रोफ़ेसर मदन ने उसे छोड़कर राज से शादी कर ली तो भी वह उनके पीछे पड़ी है।

पूरन : कौन जाने, वे ही उसके पीछे पड़े हों ! क्या नाम है उसका ?

राज : दर्शनो।

पूरन : सुदर्शना बेरी......मैं जानता हूँ......मैं जानता हूँ ......उनके साथ ही पढ़ती थी। बहुत दिनों से उसके

साथ प्रेम था उनका। हमारे 'कल्चरल-क्लब' में तो निरन्तर इस बात की चर्चा थी कि उनकी सिविल मैरेज होने वाली है। किन्तु इससे पहले कि वे कुछ कर पाते, पिता जी वहाँ राज की सगाई कर आये।

रानी : तुमने पिता जी से उसी समय क्यों न कहा?

पूरन : मैंने उसी दिन कहा था कि आप प्रोफ़ेसर मदन को देख कर उनके पिता से बातचीत पक्की कर आये, स्वयं उनसे भी तो मिलिए, उनके विचारों को भी तो जानिए। आपने अपनी ओर से पढ़ा-लिखा, भला, कमाऊ लड़का ढूँढ़ लिया, यह भी जाना कि वह क्या चाहता है? किन्तु मुझे तो वे सिर-फिरा और आवारागर्द समझते हैं। मेरी बात पर उन्होंने ज़रा भी कान न दिया। (कुछ क्षण चुपचाप घूमता है, फिर जैसे आन्तरिक झुँझलाहट से) एक दिन चाचा वृन्दाबन से अपने समधी की और यों अपनी बड़ाई कर रहे थे (चिड़चिड़ाहट भरे स्वर में लगभग नकल उतारते हुए) "मैं लड़के के पिता से मिला हूँ, बड़े सज्जन हैं, अहंकार उनमें नाम को भी नहीं। भेंट हुई तो कहने लगे, "मैं तो आपको पाकर धन्य हो जाऊँगा।" मैं भी पास ही खड़ा था, मैंने कहा—"आपने उनकी इच्छा तो जान ली। उनके लड़के की इच्छा भी तो जानिए। वह भी आपकी लड़की को पाकर धन्य होगा या नहीं?"

राज : (दुर्बल स्वर में) क्यों, मुझमें क्या दोष है, क्या मुझे उनकी भावनाओं से सहानुभूति नहीं। मुझसे बढ़ कर उनके साथ किसे हमदर्दी होगी?

पूरन : किन्तु शायद तुम उनके विचारों को नहीं समझतीं।

राज : मैंने उनकी आधी बात भी कभी नहीं काटी।

पूरन : बात—बात काटने की नहीं। वे प्रोफ़ेसर हैं, और वह एम० ए० है। दोनों एक दूसरे के स्वभाव को, एक दूसरे की आवश्यकताओं को समझते होंगे। तुम उन्हें नहीं समझ सकतीं और वे भी शायद तुम्हें नहीं समझ सकते। मैंने पिता जी से यही कहा था—"आपने राजो को उचित शिक्षा नहीं दी और उसके सब से बड़े गुण ये हैं कि वह अच्छा खाना पका सकती है और घर का काम बड़ी कुशलता और मितव्ययता से चला सकती है। कहीं ऐसा न हो कि उसके यही गुण वहाँ जाकर अवगुण बन जायँ!" किन्तु उन्होंने मुझे डाँट दिया। कहने लगे—"तुम्हें पढ़ा कर मैं बड़ा सुखी हो गया हूँ, जो अब लड़कियों को पढ़ाऊँगा।" मैंने कहा—"तब इसका ब्याह इतने पढ़े-लिखे से न कीजिए।" कहने लगे—"तू मेरा बेटा है या बाप?" (**कटु व्यंग्य से**) जैसे उनके बाप होने से मेरी बात ग़लत हो गयी।

रानी : तुमने यह नहीं कहा कि वे दूसरी जगह विवाह करना चाहते हैं?

पूरन : मैंने कहा था। किन्तु वे बोले कि अच्छे लड़कों के सम्बन्ध में ऐसी बातें लोग सदा उड़ाया करते हैं। यहाँ जोड़ने वाले दो हैं तो तोड़ने वाले चार। जब मैंने नाम-पता बताया, तो गरजे कि पंडित उदयशंकर का लड़का अपनी जाति के बाहर कभी विवाह नहीं कर सकता। अब वे ठहरे पुराने विचारों के अनपढ़ आदमी, मैं उनसे कहाँ तक

माथा फोड़ता। बहुतेरा ज़ोर लगाया, पर उन्होंने एक न सुनी। कहने लगे कि बातें करना जानता है, बहिन के लिए लड़का ढूँढ़ना पड़े, तो पता चले। मैंने कहा, "कुछ दिन रुकिए, मैं बहुत अच्छा लड़का ढूँढ़ दूँगा।" बोले—"ढूँढ़ लेगा अपनी तरह का निकम्मा और आवारा!"

रानी : पिता जी तो अनपढ़ और पुराने विचारों के हैं, प्रोफ़ेसर मदन तो नहीं। पिता जी की भूल तो स्पष्ट है, किन्तु क्या प्रोफ़ेसर मदन की कोई भूल नहीं? उन्हें क्या नहीं सोचना चाहिए था और फिर उन दोनों की ग़लतियों में राज बेचारी क्या करे? आखिर इसका क्या दोष है?

पूरन : (कटुता से) वही जो तुम्हारा......

रानी : मेरा?

पूरन : वकील साहब ने तुम्हें छोड़ दिया, क्योंकि पिता जी ने दहेज़ में मकान और मोटर नहीं दी, किन्तु इसमें तुम्हारा क्या दोष है? पर जैसा कि मैंने तुमसे कहा, इस देश में पुरुष कभी ग़लती नहीं करता, उसका कभी दोष नहीं होता, यहाँ केवल नारी ग़लती करती है। उसी का दोष होता है और नारी का दोष उस निरीह गाय के दोष जैसा है, जिसको, उससे पूछे बिना, उसकी इच्छा जाने बिना, कसाई के हाथ में सौंप दिया जाय। वह कसाई उसे एक झटके में मार दे या तिल-तिल कर उसकी हत्या करे, भूखा मारे या चारे के भरे थान पर बाँध दे!

राज : पर वे तो कसाई नहीं, वे तो एक चींटी तक को मारना पाप समझते हैं।

पूरन : किन्तु पाँच हाथ की लड़की को बिना किसी संकोच के तिल-तिल कर मार सकते हैं।

राज : यह तो मेरा भाग्य है, भैया।

पूरन : (झल्लाकर उठ खड़ा होता है।) भाग्य......भाग्य ......भाग्य..... ! भाग्य क्या तुम्हीं लोगों के लिए रह गया ? वकील साहब या प्रोफ़ेसर मदन के लिए उसके तूणीर में क्या कोई तीर नहीं ? (सव्यंग्य) किन्तु पुरुष के भाग्य के गुण तो ऋषियों ने भी गाये हैं, उसकी थाह तो देवता भी नहीं पाते। वह चाहे तो तीन-तीन शादियाँ करे और तीनों को कष्ट दे-देकर मार डाले; चाहे तो बिना कारण पत्नी को छोड़ दे या न छोड़े; रखे या न रखे; चाहे तो बुड्ढा खूसट होते हुए भी एक निरीह किशोरी को अपने जीवन से बाँध ले; अपंग और अधमरा होते हुए भी सुन्दर और स्वस्थ लड़की ब्याह लाये...पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति... किन्तु तुम्हें बताया है न, रानो, दूसरे देशों में स्त्रियों ने भगवान के हाथ से अपना भाग्य छीन लिया है। उन्होंने अपने अहम् को, अपने 'स्व' को इतना ऊँचा उठा लिया है कि उनके भाग्य को बनाने के पहले भगवान को उनसे पूछना पड़ता है। तुम लोग भी यदि अपने भाग्य को स्वयं अपने हाथों में नहीं लेतीं तो जीवन भर तिल-तिल कर जलती रहोगी।

रानी : तुम एक बार जाकर प्रोफ़ेसर मदन से पूछो तो पूरन। वे तो वकील साहब-जैसे निर्दयी और स्वार्थी नहीं ! राजो के जीवन को नष्ट करने का उन्हें क्या अधिकार है ?

पूरन : (कटुता से) यहाँ के पुरुष का यह जन्म-सिद्ध अधिकार

है, और स्त्री वही पतिव्रता है, स्वर्ग की अधिकारिणी है, जो पुरुष के इस अधिकार के विरुद्ध सपने में भी आवाज़ उठाने की न सोचे। (कुछ क्षण चुपचाप कमरे में घूमता है।) मुझे डर था, राजो का जीवन सुखी न होगा। डर था, कहीं प्रोफ़ेसर मदन दूसरा विवाह न कर लें! (कुछ क्षण चुपचाप घूमता है।) राज की शादी से पहले मेरा और उनका अच्छा परिचय था, शादी के बाद वह गहरी मैत्री में बदल जाना चाहिए था। किन्तु ऊपरी शिष्टाचार चाहे और भी बढ़ गया, मैं उनके निकट नहीं जा सका। (कुछ क्षण चुपचाप घूमता है।) फिर मैंने देखा कि वे मेरी सूरत तक से घबराते हैं, तब मेरा माथा ठनका था और मैंने पिता जी को संकेत भी दिया था, किन्तु उनका विचार था कि प्रोफ़ेसर मदन की उपेक्षा का कारण मेरी आवारागर्दी है। (दर्द से हँसता है।) मैं जाऊँगा अवश्य, किन्तु जब वे एक दूसरी लड़की से विवाह कर रहे हैं तो कहने-सुनने से लाभ? फिर जो एक-आध प्रतिशत चाँस रह गया होगा, उसे पिता जी बिगाड़ देंगे। हृदय के मामले में ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं चला करती, रानो, न ही पैसे का लोभ-लालच वहाँ ठहरता है। और पिता जी दोनों के अतिरिक्त किसी तीसरी बात में विश्वास नहीं रखते। वकील साहब पैसे के लोभ में तुम्हें ले जा सकते हैं, किन्तु प्रोफ़ेसर मदन पर लोभ-लालच का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

[चुपचाप खिड़की में जाकर बाग के शून्य में देखने लगता है, कमरे में दर्द-भरा सन्नाटा छाया रहता है।]

पूरन : (कुछ चौंककर) अरे, यह क्या वकील साहब आ रहे हैं?

राज : (तख्त पर सहसा उठते हुए) त्रिलोक जीजा जी ?

रानी : साथ कौन है, वृन्दाबन चाचा ?

पूरन : नहीं, कोई उनका मित्र लगता है।

राज : अवश्य जीजी को लेने आये हैं। पिता जी बहुत दिनों से प्रयत्न कर रहे थे।

रानी : पूरन, उन्हें दरवाज़े से लौटा दो, मैं न जाऊँगी !

पूरन : तुम लोग अन्दर चलो, मैं देखता हूँ।

रानी : चलो, राज।

राज : क्या करती हो जीजी ? यहाँ मान-अपमान नहीं चलता।

रानी : चलता है ! तू चल, अन्दर चलें !

[उसे सहारा देकर अन्दर ले जाती है, पूरन कौच में धँस जाता है और अन्यमनस्कता से समाचार-पत्र उठा लेता है। तभी कॉल-बेल बजती है। वह उठ कर बाहर जाता है। कुछ क्षण बाद पूरन के आगे-आगे त्रिलोक प्रवेश करता है। पूरन के माथे पर चिड़चिड़ाहट की रेखाएँ प्रकट लक्षित हैं। स्पष्ट है कि उसने त्रिलोक का स्वागत नहीं किया, पर त्रिलोक उसके स्वागत की चिन्ता किये बिना अन्दर चला आया है।]

त्रिलोक : (खोखली-सी हँसी के साथ) बड़े तीर-कमान चढ़ा रक्खे हैं माथे पर, किसी से लड़ के बैठे हो ? (आकर कौच में धँस जाता है।) पिता जी और रानो तो सब ठीक हैं न ?

पूरन : आप अपनी कहिए वकील साहब, कैसे कष्ट किया ?

[सामने कौच के बाजू का सहारा लेकर खड़ा हो जाता है।]

त्रिलोक : (खोखला-सा ठहाका लगाते हुए) एक ही वर्ष में भूल गये हमें ? न जीजा जी, न भाई साहब . . . वकील साहब ! (फिर हँसता है।) मैंने कहा न, कि तुम अवश्य ही किसी से लड़ के बैठे हो।

पूरन : एक ही नगर में रहते हुए और इतने निकट होते हुए जब आप भूल सकते हैं तो हमारी स्मरण-शक्ति से क्यों शिकायत करते हैं। कहिए, कैसे कृपा की ?

त्रिलोक : रानो कहाँ है ?

पूरन : कहिए ?

त्रिलोक : तुम तो भाई लड़ते हो।

(पूरन कोई उत्तर नहीं देता।)

— : आज इतवार था, मैंने सोचा कि पिता जी से और आप लोगों से मिलता आऊँ।

पूरन : (सव्यंग्य) बड़ी कृपा की ! पर वर्ष में तो बावन इतवार आते हैं।

त्रिलोक : (गम्भीरता से) मैं तो बहुत दिनों से आने की सोच रहा था, किन्तु एक तो काम बढ़ गया है, दूसरे माता जी की तबीयत कुछ गड़बड़ हो गयी। वे ठीक हुईं तो आशा को ज्वर हो आया। उसकी दशा सुधरी तो पिता जी और बड़े भाई पड़ गये। कचहरी, मुवक्किल, डाक्टर, कम्पाउण्डर— बस इसी चक्कर में रहा।

पूरन : (व्यंग्य से हँसते हुए) आपने व्यर्थ ही यहाँ आने की सोची !

त्रिलोक : क्या मतलब ?

पूरन : (उसी तरह हँसते हुए) न आप यहाँ आने की सोचते, न आपका घर अस्पताल बनता।

त्रिलोक : (खिन्नता से हँसते हुए) नहीं-नहीं, यह बात नहीं। आजकल दिन ही ऐसे हैं, सारा नगर बीमार पड़ा है, हमारे घर में तो अब भी चार आदमी पड़े हैं। मँझली भाभी और बड़े भाई के लड़के और......

पूरन : बड़ी बाधाओं को पार करके आये आप यहाँ, कैसे आपको धन्यवाद दें!

[दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं। त्रिलोक समझ नहीं पाता कि पूरन गुस्से में है अथवा यों ही, उसका टखना खींच रहा है और वह स्वयं क्रोध करे या हँसे।]

— : आपको यहाँ आने के बदले बीमारों की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए थी!

त्रिलोक : (उसके व्यंग्य को समझते, किन्तु टालते हुए किंचित हँसकर) अरे भाई, सम्मिलित परिवार में जो व्यक्ति सेवा-शुश्रूषा पर रहता है, वह फिर और कोई काम नहीं कर पाता। रानो जब से आयी, न उसने कोई खबर दी और न मैं ही आ सका, आज सोचा पता करूँ, बात क्या है?

(पूरन कोई उत्तर नहीं देता।)

— : (उठ कर कमरे में घूमते और हाथ धोने के अन्दाज़ में हाथ मलते हुए) जिन घरों में माँ-बाप, भाई-भाई, देवरानियाँ-जेठानियाँ और ननदें-भौजाइयाँ इकट्ठी रहती हैं, तुम जानो, एक-न-एक झगड़ा-टंटा वहाँ लगा ही

रहता है—इसने कुछ उसे कह दिया, उसने कुछ इसे कह दिया; सास ने बहू को बोली मारी, बहू ने सास को ताना दिया; देवरानी जेठानी से रूठी, ननद भौजाई की बात का बुरा मान गयी—आठों पहर और चौबीसों घड़ी प्लासी की लड़ाई ठनी रहती है। बड़ा सबर और सन्तोष चाहिए सम्मिलित परिवार में निबाहने को। रानो बड़ी भाव-प्रवण है, ज़रा-सी बात उसे लग जाती है। पिछली बार वह कुछ रूठ कर आ गयी थी, मैंने भी सोचा कि जब तक एक ही घर में इकट्ठे रहना है, रोज़ की चखचख में उसे क्या लाकर रक्खूँ। (**धीमे भेद-भरे स्वर में**) किन्तु अब मैं अलग होने की सोच रहा हूँ।

पूरन : (**व्यंग्य को मुस्कान में छिपाते हुए**) बड़ा त्याग करने जा रहे हैं रानो के लिए आप !

त्रिलोक : (**यह सोचकर कि वह बात बनाने में सफल हो रहा है, तनिक ज़ोर से**) नहीं यह बात नहीं ! जिस दिन से हमारा विवाह हुआ है, मैं निरन्तर यह अनुभव कर रहा हूँ। आज का कौन युवक नहीं चाहता कि अपनी पत्नी को साथ लेकर स्वतन्त्रता से रहे; जब चाहे उठे, सैर को जाय, ताश खेले या सिनेमा देखे, किन्तु गर्दन तक दलदल में धँसे आदमी को बाहर निकलने के लिए उतना ज़ोर नहीं लगाना पड़ता, जितना सम्मिलित परिवार के कीचड़ में टखनों तक धँसे आदमी को। वह एक बाधा को पैर से झटक कर बढ़ता है कि दस बाधाएँ उसके दूसरे पैर से आ चिमटती हैं। सम्मिलित परिवार का दुर्ग कम दुर्गम नहीं भाई, माता-पिता के उपकार, भाई-बहनों का प्यार, कुल की लाज, पुरखों का

नाम, गत की महत्ता और आगत की सम्मिलित-शक्ति के सपने—न जाने कितनी दीवारें सम्मिलित परिवार की चारदीवारी को तोड़ भागने वाले के रास्ते में आ खड़ी होती हैं।

पूरन : सम्मिलित परिवार से निकलने के ही लाभ नहीं, रहने के भी बड़े लाभ हैं वकील साहब। यह ठीक है कि कई भावुक इसके ठूंठ को व्यर्थ ही पानी दिया करते हैं, किन्तु जहाँ पेड़ हरा-भरा और छायादार है, वहाँ कई बेकार युवक, छोटे-मोटे क्लर्क और महत्त्वाकांक्षी नये वकील इसकी छाया का आनन्द लेते हैं।

त्रिलोक : (सहसा मुड़कर) नये वकील......तो यह व्यंग्य मुझ पर है!

पूरन : नहीं, आप तो पेड़ की छाया में रहकर बड़ा त्याग कर रहे थे, और अब उसे छोड़ रहे हैं तो उससे बड़ा त्याग कर रहे हैं—आप साक्षात त्याग के अवतार हैं।

त्रिलोक : (जिसके सन्तोष का प्याला भर जाता है, सहसा मुड़कर) नहीं, त्याग के अवतार तो तुम हो, हम क्या होंगे! क्यों तुम अपने जीवन के मानदंड से दूसरों को नापते हो। मैं यदि पेड़ के फल खाता हूँ तो उसे दो बाल्टी पानी भी देने का प्रयास करता हूँ। तुम फल खाते हो और उसकी जड़ को खोखला करते हो। मेरे पिता को मुझसे शिकायत हो सकती है, पर वे मेरी प्रशंसा भी करते हैं। कभी अपने पिता से भी अपने सम्बन्ध में कुछ पूछा है? तनिक अपनी शक्ल तो आइने में देखो! क्या राय साहब ताराचन्द के सुपुत्र लगते हो? कचहरी में कहीं मिल जाओ तो मित्रों

से कहने में संकोच हो कि तुम मेरे साले हो। भलेमानुसों में बैठो तो लोग अपनी जेबों पर हाथ रख लें।

पूरन : (हँसकर) मेरी बात छोड़िए वकील साहब, किन्तु आप पानी देते-देते क्या थक गये, जो अब पेड़ को छोड़ कर भागना चाहते हैं?

त्रिलोक : (क्रोध से) तुम से बात करना व्यर्थ है! तुम्हारा न कोई धर्म है न ईमान। तुम्हारे हृदय में न छोटों के लिए स्नेह है, न बड़ों के लिए आदर। बात करने की तुम्हें तमीज़ नहीं। आवारा लोगों की संगत ने तुम्हें निपट आवारा बना दिया है। तुम एक दिन जेल में जाकर अपने पिता का नाम रौशन करोगे, मैं आज यह भविष्यवाणी करता हूँ।

[उछलता हुआ कौच पर बैठता है। लेकिन जैसे वहाँ काँटे बिखरे हों, फिर उछलकर उठता है।]

— : तुम रानी को भेजो!

पूरन : (उसकी बात अनसुनी करके) और मैं भविष्यवाणी करता हूँ कि आप एक दिन, यदि इसी तरह धर्म-ईमान का ध्यान रखते और निःस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्य का पालन करते रहे तो निश्चय ही दलालों और अपनी वकील-सुलभ-चतुराई और झूठ की सहायता से, नगर ही नहीं, प्रान्त के प्रसिद्ध एडवोकेट बनेंगे। कोई बड़ी बात नहीं यदि आप एक दिन जज की कुर्सी पर जा बैठें। (सहसा मुड़ कर) किन्तु इस समय आप यहाँ से पधारिए, राजो का जी ठीक नहीं और रानो उसकी देख भाल कर रही है।

त्रिलोक : (सहसा उठकर और अन्दर जाने को उद्यत होते हुए) क्या राजो का जी ठीक नहीं? कहाँ है वह? चलो तो. . . .

पूरन : (उसका रास्ता रोककर) आप कष्ट न कीजिए, वह आपसे मिलने की स्थिति में नहीं है।

त्रिलोक : (हताश होकर कुर्सी में धँसते हुए) पिता जी कहाँ हैं ?

पूरन : ज़रा आपके साढ़ू साहब की सेवा करने गये हैं।

त्रिलोक : (घबराकर उठते हुए) क्यों, प्रोफ़ेसर मदन को क्या हुआ ?

पूरन : आपने अभी कहा न, दिन ही ऐसे हैं, घर-घर बीमारी पड़ी हुई है ! अच्छा तो मुझे आज्ञा दीजिए।

त्रिलोक : तुम ज़रा रानो को पल भर के लिए भेज दो, उससे कुछ आवश्यक बातें करनी हैं।

पूरन : रानो नहीं आ सकती।

त्रिलोक : तुम जाकर कहो तो, मुझे बड़ी आवश्यक बात करनी है उससे। दस काम छोड़ कर मैं आया हूँ।

पूरन : मैं तो समझा था कि इतवार के कारण आप केवल दर्शन ही करने आये हैं।

त्रिलोक : (सक्रोध) पूरन !

पूरन : (उसके स्वर की थरथराहट और उसकी आँखों की लपलपाहट की ओर ध्यान दिये बिना) अभी भरा नहीं मन आपका रानो से आवश्यक बातें करके ?

त्रिलोक : वह मेरी पत्नी है और अपनी पत्नी से......

पूरन : पत्नी थी।

त्रिलोक : क्या बकते हो !

पूरन : मैं ठीक निवेदन करता हूँ !

त्रिलोक : (सहसा घबराकर) और...और किस की पत्नी है वह?...किस से ब्याह किया है उसने?...किस से ब्याह कर रही है वह...हिन्दू कानून में दूसरा ब्याह... मैं पूछता हूँ, पिता जी ने कैसे...वृन्दाबन कहते थे...

पूरन : (चुपचाप त्रिलोक की घबराहट को देखता है और मुस्कराता है।)

त्रिलोक : (कुछ क्षण पूरन की ओर देखकर सहसा आश्वस्त होकर हँसते हुए) तुम मुझ से हँसी करते हो पूरन। जाओ रानो को भेजो। तुम नहीं जानते तुम ने अपनी बहिन के सम्बन्ध में क्या बात कह दी है। हिन्दू नारी सपने में भी वैसी बात नहीं सुन सकती।

पूरन : सपने में भी! (व्यंग्य से हँसता है।) कदाचित आप हिन्दू नारी के सपने भी जानते हैं। क्योंकि उसकी कोमल भावनाओं का अनुचित लाभ उठाने के लिए युग-युग से उसे जो पाठ पढ़ाया गया है, वह आपका जाना-माना है और आप समझते हैं कि आप चाहे जो अत्याचार करें, वह सती की प्रथा बन्द होने के बाद भी सती; पुरुष के साधुता छोड़ देने पर भी साध्वी और पति के कर्तव्य-च्युत होने के बाद भी पतिव्रता बनी रहेगी। किन्तु वकील साहब, आज हिन्दू नारी बदल रही है, हिन्दू मुसलमान क्या, भारत की नारी-मात्र बदल रही है, उसके सपने बदल रहे हैं, आप आज की नारी के सपने तो क्या, उसकी भावनाओं को भी नहीं समझते!

त्रिलोक : तो यह आग तुम्हारी लगायी है! मैं न समझता था कि रानो उतनी मानिनी क्यों है, क्यों वह नाक पर मक्खी

नहीं बैठने देती और घर में ज़रा झगड़ा होता है तो मैके उठ भागती है। जहाँ चार बरतन होते हैं, खनकते हैं; जहाँ चार स्त्रियाँ होती हैं अवश्य लड़ती हैं। कौन सा घर है जिसकी स्त्रियों में ताने-तिश्ने, लड़ाई-झगड़ा, मान-मनौवल नहीं होता? किन्तु दर्द के डर से कोई नाक-कान तो छिदवाना नहीं छोड़ देती।

पूरन : पर नाक-कान छिदवाना क्या आवश्यक है? नारी पशु की सीमा को लाँघ आयी है और इसलिए यदि नुकेल के लिए नाक-कान नहीं बिंधवाना चाहती तो क्या बुरा करती है? व्यर्थ का दर्द वह क्यों पाले?

त्रिलोक : यह दर्द व्यर्थ का नहीं, इसी पर हमारी गृहस्थी सधी है। अब तो ख़ैर हमारे घर में बड़ी स्वतन्त्रता है, पर जब मेरी माँ आयी थीं तब......आज हम बात भी करते हैं तो हमारी ज़बान खींची जाती है, मेरी दादी तो माता जी को बेतरह पीट देती थीं और पिता जी उन्हें रोकने के बदले एक-आध थप्पड़ माता जी के ही जड़ देते थे। यदि वे रानो की तरह घर छोड़ने लगतीं तो चल चुकती पिता जी की गृहस्थी। पर यह उनके सबर-सन्तोष का फल है कि आज हमारा घराना शहर के प्रतिष्ठित घरानों में समझा जाता है।

पूरन : तो रानो को पीटने की साध रह गयी आपको!

त्रिलोक : पीटने की साध मुझे क्या होती! वह तो बात से बात निकल आयी। मैं बच्चा नहीं, जो यह न समझूँ कि पिता जी के और हमारे युग में अन्तर है। मेरा बस चले तो रानो को एक बात भी न सुननी पड़े। उसकी भावनाओं

को तनिक सी भी ठेस न लगे, किन्तु कई बार जब घर में झगड़ा हो जाता है तो पत्नी के कारण माँ को और माँ के कारण पत्नी को चार बातें सुननी पड़ती हैं। क्रोध पत्नी पर होता है, निकलता है माँ पर। इसी तरह माँ का गुस्सा अनचाहे पत्नी पर निकल जाता है। बहुएँ समझदार होती हैं तो बात का बतंगड़ नहीं बनातीं और चुपचाप अपने काम में लगी रहती हैं। मैं रानो से यही बात कहने आया था कि......

पूरन : रानो यह बात पहले भी सुन चुकी है।

त्रिलोक : किन्तु मैं तो इस सबका झगड़ा ही निबटा रहा हूँ। मैंने निश्चय कर लिया है कि कचहरी रोड पर एक फ्लैट लेकर रानो को वहाँ रक्खूँ—न सास-ननद का झगड़ा, न देवरानी-जेठानी का टण्टा, न रहे बाँस न बजे बाँसुरी।

पूरन : रानो को तो सास-ननद से नहीं, आपसे शिकायत रही है। अब वह सारी गाथा यहाँ क्या गायी जाय।

त्रिलोक : उसको केवल भ्रम है। जितना आदर मैं उसका करता हूँ, किसी का नहीं करता, झगड़े की जड़ तो यह सम्मिलित परिवार है।

पूरन : रानो ने निश्चय कर लिया है कि वह आपको यह सब कष्ट न देगी। आप अपना जीवन जियें, वह अपना जियेगी। यही बात आपने उससे कही भी थी।

त्रिलोक : क्रोध में कही गयी बात का......

पूरन : आप थूका चाट सकते हैं, हम नहीं......

त्रिलोक : हम कौन? पिता जी ने तो मुझे दस संदेश भेजे हैं कि

रानो उदास है, मैं उसे ले जाऊँ! तुम तो ऐसी बात करते हो जैसे रानो तुम्हारी बहिन नहीं, बेटी है।

पूरन : छोटी बहिनें बेटियों के समान होती हैं।

त्रिलोक : क्या पिता जी से अधिक तुम उसे प्यार करते हो?

पूरन : हाँ, क्योंकि वह उनकी बेटी है और मेरी छोटी बहिन।

त्रिलोक : (क्रोध और व्यंग्य से) 'नहीं बसी ससुराल, नसीहत दे सखियन को', अ-भई पहले अपना जीवन बनाओ, फिर दूसरे के फटे में टाँग अड़ाओ!

पूरन : आपके घर जीवन बनाने न जायेंगे, इसका विश्वास रखिये।

त्रिलोक : (क्रोध से चिल्लाकर) पर तुम होते कौन हो हमारे बीच पड़ने वाले? मैं रानो को लेने आया हूँ। बिना उसे लिये नहीं जाऊँगा।

पूरन : (सव्यंग्य) अच्छा तो आप रानो को लेने आये हैं, मैं तो समझा था कि इतवार को......

त्रिलोक : (और भी जोर से चिल्लाकर) हटाओ जी, मैं स्वयं रानो से बात करूँगा।

(चिल्लाता हुआ अन्दर की ओर जाता है।)

त्रिलोक : रानो, रानो!

(रानो प्रवेश करती है।)

रानी : (सक्रोध किन्तु संयत स्वर में) आप चिल्ला रहे हैं? राजो का जी ठीक नहीं।

त्रिलोक : मैं आध घंटे से पूरन को समझा रहा हूँ, किन्तु......

पूरन : मैं वकील साहब से निवेदन कर रहा था कि आप ने व्यर्थ ही कष्ट किया......

रानी : अच्छा-अच्छा, शोर न मचाइए। राजो का जी ठीक नहीं, कुछ ही देर पहले वह अचेत हो गयी थी।

त्रिलोक : क्यों-क्यों, क्या हुआ राजो को ?

रानी : उसकी छोड़िए, आप कहिए, कैसे कष्ट किया ?

पूरन : साल भर में ईद का चाँद निकलता है न, सो वकील साहब भी उसी ईद के चाँद सरीखे उदय हुए हैं।

त्रिलोक : मैं पहले कैसे आता ? जिस स्थिति में तुम आने को विवश हुई थीं, उसी में तुम्हें फिर ले जाकर रखता ? वर्ष भर तक स्थिति सुधारने का प्रयास करता रहा।

रानी : स्थिति सुधारने का ? कैसी स्थिति ?

त्रिलोक : अब तुम्हें न सास के ताने सुनने पड़ेंगे, न ननद के, न देवरानी के, न जेठानी के......

रानी : किन्तु आप के ताने ? अपने मन की स्थिति आप कैसे सुधारेंगे ?

त्रिलोक : मैं उस वातावरण से निकल जाऊँगा।

रानी : (तिक्त हँसी के साथ) और उस वातावरण से निकल आने के साथ, मेरे सम्बन्ध में आपको जो शिकायतें हैं, वे दूर हो जायेंगी ! (कटुता से हँसती है।) वातावरण आपका बदलेगा, अच्छी मैं हो जाऊँगी !

त्रिलोक : तुमने मुझे कभी नहीं समझा, रानी। मुझे तुमसे कभी शिकायत नहीं रही।

रानी : कभी नहीं रही ? मैंने तो सिवा शिकायतों के अपने लिए आप से कुछ और पाया ही नहीं !

त्रिलोक : वे शिकायतें तो रोज़-रोज़ की चख़चख़ का परिणाम थीं जो घर में आठों पहर मची रहती थी।

रानी : मेरे कारण ?

त्रिलोक : अरे नहीं, नहीं, नहीं; तुम्हारे कारण क्यों ? . . . . . तुम्हारे कारण क्यों ? मैंने कब कहा कि तुम्हारे कारण ! वह बात यह है . . . कि . . . मैं . . . कि . . . हाँ . . . कि हाँ पूरन से कह रहा था सम्मिलित परिवारों में वातावरण कुछ ऐसा दूषित रहता है कि अच्छा भला आदमी पागल हो जाता है। माँ के कारण तुम पर और तुम्हारे कारण कई बार माँ पर झुंझला उठता था।

रानी : मैंने तो कभी माँ पर आपको झुंझलाते नहीं देखा। माँ को प्रसन्न करने के लिए मुझ पर आप सदा झुंझलाते रहे।

त्रिलोक : तुम्हारे सामने नहीं किन्तु . . . . . .

पूरन : और माँ ही को प्रसन्न करने के लिए आप ने इस को घर से निकाल दिया ?

त्रिलोक : निकाल दिया ? यह तो स्वयं आ गयी।

पूरन : आने को विवश हुई।

त्रिलोक : सम्मिलित परिवार का वातावरण ही ऐसा होता है कि भावुक के लिए वहाँ चार दिन भी रहना कठिन है। रानो कितनी भावुक है, मैं जानता हूँ। मेरा यदि कोई दोष है तो यह कि जब यह आने लगी तो मैंने रोका नहीं।

पूरन : अत्यन्त क्रूरता से नौकरानी के साथ भिजवा दिया।

भाई-बहिनों वाले इतने बड़े घर में केवल एक नौकरानी के साथ !

त्रिलोक : मैं तो स्वयं आता। पर इसे मेरी सूरत से चिढ़ थी।

रानी : (तिक्त हँसी के साथ) मुझे आपकी सूरत से चिढ़ थी या आपको मेरी सूरत से ?

त्रिलोक : (खोखली हँसी के साथ) अब मैं कहता हूँ रानो, कि यहीं तुम ग़लती करती हो। तुम नहीं जानतीं, मैं तुम्हारा कितना आदर करता हूँ।

रानी : (उसी तिक्त मुस्कान से) आदर ?

त्रिलोक : हाँ, हाँ, आदर ! मैं हृदय में सदैव तुम्हारा आदर करता रहा हूँ, यह अलग बात है कि घर वालों के कारण तुम्हें ताने देने को विवश हो जाता था।

पूरन : (सव्यंग्य) वे ताने तुम्हारे लिए नहीं, वे तो माँ, भाभियों या बहिनों के लिए थे।

त्रिलोक : (अपनी रौ में पूरन के व्यंग्य की ओर ध्यान दिये बिना) यही तो मैं कह रहा था। कई बार ऐसा होता है कि माँ बच्चे को पीटती है, पिता को अच्छा नहीं लगता किन्तु पत्नी से कुछ कहने के बदले उसके सिर चढ़ कर स्वयं भी बच्चे को दो-चार झाँपड़ लगा देता है। मेरी बेबसी भी कुछ वैसी ही थी।

[अपने पति के इस झूठ पर क्षण भर के लिए क्रोध से रानो के तेवर चढ़ जाते हैं, पर दूसरे क्षण उसकी आँखें पूरन से चार होती हैं, जो अपने जीजा के इस झूठ पर हँस रहा है। सहसा रानो भी क्रोध के बदले मुस्करा

उठती हैं, पर तत्काल इस व्यंग्य-भरी-मुस्कान को छिपा लेती है।]

रानी : (बड़े भोले अन्दाज में) मैं हैरान हूँ, यह बात पहले मेरी समझ में क्यों नहीं आयी।

त्रिलोक : (किंचित उल्लास से) यही तो मैं कहता हूँ। तुमने मेरी बेबसी को कभी नहीं समझा। जब मैं चिल्ला-चिल्ला कर तुम्हें डाँटता था, तुम्हें ताने देता था तो मैं वास्तव में अपनी माँ, भाभियों और बहिनों को डाँटता था—अनचाहे अपने बच्चे को पीटने वाले पिता की भाँति मैं उन सबका क्रोध तुम पर निकालता था। मुझे दुख होता था कि वे तुम्हें क्यों पिता जी की कंजूसी या तुम्हारी सुकुमारता या शिष्ठता के ताने देते थे।

रानी : (और भी भोलेपन से ओठों पर आती तिक्त मुस्कान को छिपाते हुए) मैंने कभी यह नहीं समझा। आप ने मुझे कभी नहीं बताया।

पूरन : तुम नहीं जानतीं, कैसे माएँ बहुओं को समझाने के लिए अपनी बेटियों को डाँटा करती हैं। वही बात वकील साहब की है। ये माँ-बहिनों को समझाने के लिए तुम्हें डाँटा करते थे।

त्रिलोक : तुम मज़ाक करते हो पूरन। किन्तु बात तुमने ठीक कही है। मेरी स्थिति बिलकुल ऐसी ही है।

रानी : (उसी अन्दाज में) पर मैं कैसे जानती? आपने भी तो मुझे कभी नहीं समझाया, कभी अपने दिल की बात नहीं बतायी, कभी नहीं कहा कि......

त्रिलोक : (और भी जोश से) अब मैं तुमसे क्या कहता, क्या समझाता ? मैं स्वयं अपने-आप पर झुँझलाता था, घर के वातावरण पर झुंझलाता था, झुँझलाता था कि यदि उन्हें दहेज़ उतना प्यारा था तो क्यों पहले उन्होंने राय साहब से तय नहीं किया......

पूरन : और आप उन्हें समझाने के बदले रानो को उसी दहेज़ की कमी के ताने देते थे ! रानो पर ही अपनी झुंझलाहट निकालते थे !

त्रिलोक : (अप्रतिभ हुए बिना) रानो पर ही......क्योंकि रानो को मैं अपने से विलग नहीं समझता । रानो पर मेरा झुँझलाना स्वयं अपने आप पर झुँझलाना था।

पूरन : (ज़ोर से ठहाका मारते हुए) आप निश्चय ही एक दिन हाईकोर्ट में अपनी धाक जमायेंगे। बिगड़ी बात बनाना आप ख़ूब जानते हैं।

त्रिलोक : बात बिगड़ी बनाने की नहीं, मैं यथार्थ स्थिति की बात कर रहा हूँ।

रानी : (उसी भोले स्वर में) आपने क्यों न मुझे वहाँ समझा दिया ? मैं साल भर यहाँ जलती-भुनती रही। यदि मुझे इस बात का पता चल जाता तो मैं सबके ताने सह लेती और सबर-सन्तोष से दिन काट लेती।

त्रिलोक : मैं कभी न चाहता था कि तुम उस दूषित वातावरण में रहो। मैंने इसीलिए तुमसे वहाँ कुछ नहीं कहा।

[इस बात को सुनकर रानो के माथे पर फिर बल पड़ जाते हैं, पर वह बड़े यत्न से अपने क्रोध को दबा कर,

स्वर को और भी भोला, और भी अनजान बना लेती है।]

रानी : अब मैं वहाँ गयी तो कभी न झुंझलाऊँगी।

त्रिलोक : तुम्हें वहाँ जाने की कोई आवश्यकता नहीं, मैंने अलग रहने का निर्णय कर लिया है।

पूरन : वकील साहब तो पेड़ को पानी देते-देते ऊब गये हैं।

रानी : (पूरन की बात अनसुनी करके वकील साहब से) अलग कहाँ ?

त्रिलोक : मैं कचहरी रोड पर एक फ़्लैट ले रहा हूँ, हफ़्ता-दस दिन तुम्हें पुराने घर में रहना पड़े तो पड़े, इससे अधिक एक दिन भी मैं तुम्हें वहाँ न रहने दूँगा।

रानी : (सामने छत पर जैसे किसी स्वप्न संसार में विचरते हुए) कचहरी रोड के पास तो कम्पनी बाग है न !

त्रिलोक : हाँ-हाँ, हम सुबह-शाम वहाँ सैर को जाया करेंगे।

रानी : कैपिटल सिनेमा भी तो कचहरी रोड पर है !

त्रिलोक : और अब वहाँ हिन्दी फ़िल्म भी आने लगे हैं, छै के शो में सदा हिन्दी फ़िल्म आते हैं। इसी सप्ताह 'राग रंग' आया है और 'राग रंग' में गीता बाली इतना सुन्दर अभिनय करती है कि तुम मुग्ध हो जाओगी। पुराने घर से सिनेमा जाना तो यहाँ से दिल्ली जाने के बराबर है। यहाँ तो सप्ताह में दो बार सिनेमा देखने जाया करेंगे।

रानी : कचहरी रोड पर तो हमारा बँगला भी है, हम वहीं उठ जायेंगे। मैं राजो को वहाँ बुला लूँगी, उसका दिल बहल

जायगा। मेरी सहेलियाँ, जो वहाँ पर भी न मार सकती थीं, यहाँ बेधड़क आया करेंगी !

त्रिलोक : (प्रसन्न होकर) और मेरे मित्र बेधड़क आयेंगे और हम कार में पिकनिकों पर जाया करेंगे।

रानी : (चौंक कर और सहसा पलट कर) कार, आपने कार कब ली ?

त्रिलोक : (सहसा घबरा जाता है।) वह....वह...कार... वह कार तो रायसाहब अपने-आप दे देंगे, वह तो उन्होंने विवाह पर ही देने को कहा था। हम अलग रहे नहीं, उन्होंने कार और मकान दिया नहीं। अब हम अलग रहेंगे तो वे अपने आप हमको मोटर और मकान दे देंगे।

(पूरन ज़ोर से ठहाका मारता है।)

रानी : तो आप उस मोटर और मकान के लिए अलग हो रहे हैं ! मैं भी सोच रही थी कि आज रानो पर इतना मोह क्यों उमड़ आया......

त्रिलोक : (और भी घबराकर)नहीं......नहीं......वह तो .....मैं तो...अलग होने की शुरू से सोच रहा हूँ। तुमने मकान की बात की तो मेरे मुँह से कार की बात निकल गयी। कार और मकान तो पिता जी तुम्हारे नाम कर ही रहे हैं।

रानी : (चितवन पर बल पड़ जाते हैं।) आपको कैसे पता चला ?

त्रिलोक : (खोखली सी हँसी हँस कर) हमको किस बात का पता नहीं चलता, हम वकील हैं। नगर की राई-रत्ती खबर

हम तक आ जाती है। वे तो वसीयत में यह बात लिखने जा रहे हैं। चाचा वृन्दाबन कहते थे।

रानी : (और भी क्रोध से) क्या कहते थे चाचा वृन्दाबन?

त्रिलोक : वे तो इसी बीच में मेरे पास कई बार आये। तुम्हें ले जाने के लिए कहते थे, पर मैंने कहा कि जब तक मैं अलग नहीं हो जाता, मैं उसे यहाँ लाकर कभी भी उसका अपमान नहीं करा सकता।

पूरन : (ज़ोर से ठहाका मारता है।) आपको रानो के मान-अपमान का कितना ध्यान है? शायद इसके अपमान ही के विचार से आप ने झूठे-सच्चे कभी साल भर इसकी खबर नहीं ली!

त्रिलोक : मैं निरन्तर प्रयास करता रहा......

पूरन : (बात काट कर).....कि इसकी ख़बर लेने का प्रयास करें!

त्रिलोक : (खिसियाना हो कर)......कि अलग मकान की व्यवस्था होते ही इसे लेने आऊँ।

पूरन : और जब चचा वृन्दाबन ने आपको पिता जी की वसीयत की खबर दी तो आपने झट इसकी व्यवस्था कर ली।

त्रिलोक : व्यवस्था कर ली! पिता जी कितने नाराज़ हैं मेरे अलग होने की ख़बर सुनकर। यह तुम क्या जानो? और फिर मकान मिलना आजकल कोई आसान है....वह भी कचहरी रोड पर, प्रयास कर रहा हूँ कि अच्छा-सा फ़्लैट मिल जाय।

रानी : (सहसा चीख़ कर) मुझे न आपका फ़्लैट चाहिए, न पिता जी का मकान। आप जाइए!

त्रिलोक : (इस अप्रत्याशित आघात से चौंक कर) रानो ?

रानी : आप जाइए, मेरा जी ठीक नहीं। (पूरन से) चलो पूरन, हम उधर बैठें, राजो अकेली है।

त्रिलोक : (स्तम्भित) रानो!

रानी : (क्रोध से) मैं इतनी देर से चुपचाप आपकी ये चिकनी-चुपड़ी मीठी बातें सुन रही हूँ। आप क्या मुझे मूर्ख समझते हैं? क्या आपका विचार है कि उस अपमान, निरादर और घोर मानसिक यंत्रणा के बाद, जो आपने दो बरस मुझे दी, मैं इतनी भोली हूँ कि आपकी इन झूठी-मीठी बातों के भुलावे में आ जाऊँगी और समझ लूंगी कि आप एकदम पत्थर से मोम हो गये हैं; कि आपको उस रानी में, जिसे आपने घर से निकाल दिया था, इतने गुण नज़र आने लगे हैं कि आप उसे लेने दौड़े आये हैं; कि आपको अचानक उससे इतना मोह हो आया है कि आप अपने माँ, बाप, भाई-बहिनों को नाराज़ करके उसे लेकर अलग होने को तैयार हो गये हैं ? मैं आपको खूब जानती हूँ, आपकी मोह-ममता को समझती हूँ। (सामने शून्य में देखते हुए धीमें स्वर में) कभी जब मैंने आपको समझा, जाना न था तो मैं सोचा करती थी कि मैं अपने पति के साथ छोटी-सी अलग दुनिया बसाऊँगी, जिसमें हम अपना जीवन जी सकेंगे। अपने सपनों के अनुसार छोटी-सी दुनिया बसा सकेंगे, किन्तु मेरा वह सपना कब से मरीचिका सिद्ध हो चुका है। (धीमे से) आपने अलग रहने की बात

कही तो क्षण भर को मुझे उसी सपने की याद हो आयी। (तिक्त हँसी के साथ उसी व्यंग्य से) किन्तु क्या मरीचिका ने कभी किसी की प्यास बुझायी है ? आप जाइए ......पिता जी से मकान लीजिए, मोटर लीजिए। मुझे उस मकान-मोटर की कोई आवश्यकता नहीं।

[मुड़कर तेजी से जाना चाहती है, कि मुरझाई हुई राज से टकरा जाती है, जो शायद उनकी बातें सुन कर चली आयी है।]

राज : जीजी !

रानी : अरे, तू क्यों इधर आ गयी उठ कर ?

राज : जीजी, क्या करती हो, घर आये सौभाग्य को ठुकराती हो ?

रानी : मैं इस सौभाग्य की वास्तविकता खूब जानती हूँ।

राज : (त्रिलोक से) जीजा जी, आप इसकी बात पर क्रोध न करें, मेरे कारण यह अपने आपे में नहीं है।

त्रिलोक : (आगे बढ़ कर) क्यों राज, क्या हुआ तुम्हें ? तुम तो पहचानी नहीं जाती !

रानी : चल, चल, इन्हें अपनी विपदा सुनाने का कोई लाभ नहीं, ये सब एक सरीखे क्रूर और निर्दयी हैं।

(उसे लगभग ढकेलती हुई अन्दर ले जाती है।)

त्रिलोक : (पूरन से) राजो को क्या हुआ ?

पूरन : मूर्च्छा आ गयी थी।

त्रिलोक : पर क्यों ?

पूरन : आप बैठिए यहाँ, आप तो पिता जी से मिल कर ही जायँगे न, वे आपको बता देंगे। मैं तनिक राजो को देखूं!

[चला जाता है। त्रिलोक हताश कौच में धँस जाता है, बाहर कॉल-बेल बजती है। त्रिलोक उठता है।]

त्रिलोक : कौन है?

बनवारी : (ज़रा-सा पर्दे से झाँक कर) मैं आ सकता हूँ?

त्रिलोक : यार क्षमा करना मैं......

बनवारी : (चिढ़कर नकल उतारते हुए) यार क्षमा करना मैं... मैं आध घंटे से बगीचे में टहल रहा हूँ और आप हैं कि...

त्रिलोक : अरे भाई, सब मिस-फ़ायर हो गया।

बनवारी : मिस-फ़ायर?

त्रिलोक : तीर निशाने पर नहीं बैठा।

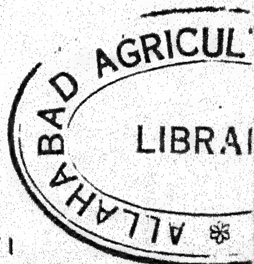
बनवारी : क्यों?

त्रिलोक : वह तो बात ही नहीं करती।

बनवारी : तुमने ज़्यादती भी तो कम नहीं की।

त्रिलोक : लेकिन यार......

बनवारी : लेकिन यार......मैंने पहले ही कहा था कि ऐसे खाली हाथ मत जाओ, एक बढ़िया साड़ी, एक बढ़िया सा लॉकेट और कर्णफूल लेते जाओ।



त्रिलोक : मैंने कहा कि ज़रा सुन-गुन ले लूँ। यह न हो कि चार-पाँच सौ की चपत फोकट में पड़ जाय। मोटर और मकान की बात वृन्दाबन ने कही थी, पर मैं बिना पक्के पाँव अब के नहीं ले जाने का। ज़रा पंडित जी आते तो पता

चलता, बहिन-भाइयों से मिल कर तो लगता ही नहीं कि वृन्दाबन की बात सच है।

बनवारी : तुम ब्राह्मण होकर भी बनिया हो। अब भी मेरा कहा मानो, चौक से एक बढ़िया साड़ी लो, सिविल लाइन्स से एक बढ़िया सा सेट। फिर आओ और देखो रूठी बीवी कैसे मनती है।

(दोनों निकल जाते हैं।)

(पर्दा गिरता है।)



तीसरा अंक

[पर्दा उठने पर बिजली पहलवान और फ़ैक्टरी के दूसरे कर्मचारियों की भीड़ के आगे-आगे, पं० ताराचन्द बृजनाथ और शिवराम के साथ, आवेश में बातें करते हुए प्रवेश करते हैं।]

ताराचन्द : तुम टाँग की बात कहते हो शिवराम, ब्रह्महत्या यदि पाप न होती तो आज विष्णु पंडित के उस सिरफिरे लड़के की गर्दन टूट चुकी होती। उसके घर क्या बहिन और उसके बाप के घर बेटी नहीं क्या? उसे शर्म न आयी राजो के ऊपर, सौत का ब्याह पढ़ाते? उसकी यह टूटी टाँग सदा उसे उसके पाप की याद दिलाती रहेगी!

[आकर धम्म से तख्त पर बैठ जाते हैं। उनके मित्र उनके आस-पास तख्त कौच इत्यादि पर बैठते हैं।

बिजली पहलवान अपने साथियों के आगे दरवाज़े की चौखट में खड़ा रहता है ! बैठते ही ताराचन्द सन्तू को आवाज़ देते हैं :]

ताराचन्द : सन्तू ! ओ सन्तू !

सन्तू : (जो भीड़ में पीछे खड़ा है, आगे बढ़कर) जी सरकार !

ताराचन्द : यह हुक्का ताज़ा कर ला ।

सन्तू : जी अभी लाया ।

(हुक्का उठाकर आँगन में ले जाता है ।)

ताराचन्द : मुझे विष्णु पंडित का ध्यान आ गया, बृजनाथ । हमारा पुरोहित न सही, पर मेरे यहाँ पत्री-पोथा वही बनाता है । उसके ज्योतिष की मैं कद्र करता हूँ, इकलौता उसका लड़का है, मर जाता तो उसके साथ पंडित भी मर जाता ।

बृजनाथ : पर तुम्हें सन्तोष से काम लेना चाहिए, ताराचन्द ! मुसीबत पर मुसीबत को बुलाना समझदारी का काम नहीं । उधर रानो की चिन्ता है, इधर राजो का जीवन खटाई में पड़ गया, ऊपर से तुम मामले-मुकदमे में उलझ जाओ, यह कहाँ की बुद्धिमानी है ?

शिवराम : जलते घी पर पानी डालने के बदले हवा करोगे तो सब भस्मीभूत होकर रह जायगा ।

ताराचन्द : (लगभग चिल्ला कर) हो जाय भस्मीभूत ! मुझे कोई चिन्ता नहीं ! उस पाजी का यह दुःसाहस कि पंडित ताराचन्द की लड़की के ऊपर सौत लाये ?

बृजनाथ : पर इसमें उसका क्या दोष है ? मज़ा मारे गाज़ी मियां

और मार खायें डफ़ाली। करे गंगाराम और भरे जमुनादास? दोष तो तुम्हारे जमाई का है।

ताराचन्द : उसे, तुम्हारा विचार है, में सस्ता छोड़ दूंगा? मेरी लड़की को यों जला कर वह चैन की बंसी बजा सकेगा? दो चार दस हज़ार की बात होती तो मैं उसके मुँह पर मार देता। उससे तो त्रिलोक ही भला। कुछ कहे-सुने बिना उसने जाकर दूसरा ब्याह तो नहीं रचा लिया। अभी उसकी प्रैक्टिस चली नहीं, कुछ सहायता चाहता है, सो मैं दूंगा। किन्तु इसने तो, सान न गुमान, सिर पर बम ही गिरा दिया। मैं समझता था कि यह लड़का गाय है और मैं एक मकान उसके नाम करने जा रहा था। **(नौकर को आवाज देते हैं)** सन्तू ले भी आ हुक्का।

सन्तू : (आँगन से) जी आया सरकार!

शिवराम : तुम्हें गुस्सा छोड़ कर बिगड़ी बात बनाने का प्रयास करना चाहिए ताराचन्द। शादी तो हो चुकी, पर इससे पहले कि उस लड़की के पाँव वहाँ जमने पायें, तुम्हें राजो को वहाँ भेज देना चाहिए।

ताराचन्द : **(चिल्ला कर)** जब तक वह वेश्या वहाँ है, राजो वहाँ कभी नहीं जा सकती!

बृजनाथ : किन्तु पंडित उदयशंकर जो कहते हैं।

ताराचन्द : (उसी तरह चिल्ला कर) पंडित उदयशंकर चाहे जो कहें, जब तक वह लड़की वहाँ है, राजो कभी वहाँ नहीं जा सकती। **(अचानक बिजली पहलवान और उसके साथियों से)** तुम लोग जाओ और जा कर अपना काम

देखो। पहले तो मुझे आशा नहीं कि कोई मामला चलाने का साहस करेगा, पर यदि कुछ हुआ भी तो चिन्ता न करना। हजार-दो-हजार रुपया भी क्यों न लग जाय, तुम पर आँच न आयेगी, उसके साथियों में से एकाध की टाँग-गर्दन तोड़ना जरूरी था ताकि उसे पता चल जाय कि यदि वह सीधी राह न आया तो उसके साथ भी वही होगा जो विष्णु पंडित के लड़के के साथ हुआ।

[उठकर घूमते हैं। बिजली पहलवान और उनके साथियों की भीड़ छँट जाती है। अन्दर आँगन से रानी और पूरन भागे आते हैं, पीछे-पीछे चींटी की चाल से आती हुई राजो भी है, जो आँगन की चौखट में ही अटक जाती है।]

रानी } *पूरन* } एक साथ } क्यों पिता जी! क्या कर आये ?

[किन्तु पंडित ताराचन्द की दृष्टि उनके ऊपर से होती हुई राजो पर चली जाती है, जो चुपचाप अपने भाग्य का निर्णय सुनने के लिए दरवाजे में खड़ी है और जिसका रंग कपास के फूल ऐसा पीला हो गया है।]

ताराचन्द : (लगभग आर्द्र होकर) राजो बेटी।

(राज वहीं खड़ी है।)

— : इधर आओ बेटी!

(राज धीरे-धीरे आकर उनके पास खड़ी हो जाती है।)

— : (उसे अपने पास तख्त पर बैठाते हुए) तू कितनी दुबली हो गयी है और कहती थी पहले से मोटी हो गयी हूँ!

(खोखली सी दर्द भरी हँसी हँसते हुए) तू तो एक दम पीली हो गयी है। कोई बीमारी-ऊमारी तो नहीं ले आयी ससुराल से?

रानी : इसे अभी मूर्च्छा आ गयी थी।

ताराचन्द : इस दशा में मूर्च्छा न आती तो और क्या होता! (नौकर को आवाज़ देते हैं।) सन्तू, सन्तू!

सन्तू : (आँगन से) जी सरकार! (हुक्का लिये भागता हुआ आता है।) जी .....जी!

ताराचन्द : भाग कर बाज़ार से आठ-दस आने का गाजर का मुरब्बा और कुछ चाँदी के वरक ले आ! यह बड़ी कमज़ोर दिखायी दे रही है।

[ताराचन्द जेब से एक रुपये का नोट निकाल कर उसकी ओर फेंकते हैं। सन्तू चुपचाप उठा लेता है। निचले सम्वादों में वह मौन-रूप से हुक्का रख कर गाजर का मुरब्बा लेने चला जाता है।]

ताराचन्द : (हुक्के का कश लेकर राज के सिर पर प्यार का हाथ फेरते हैं।) तू किसी तरह की चिन्ता न कर बेटी, वह उस चुड़ैल के फंदे में फँस गया है। उस वेश्या ने......

पूरन : वेश्या? पर वे तो सुदर्शना बेरी से शादी करने जा रहे थे!

ताराचन्द : (सक्रोध) हाँ वही! वेश्या नहीं तो वह और क्या है? जो लड़की एक विवाहित पुरुष के साथ नंगे सिर, नंगे मुंह, बारीक कपड़े पहने ओठ-मुंह रंगे, आवारा घूमती है, जिसे न अपना ध्यान है न भले घराने की दूसरी लड़की का,

वह वेश्या नहीं तो और क्या है ? मैं कहता हूँ, वेश्याओं में भी इतनी लाज-शरम होती होगी। क्यों बृजनाथ ?

बृजनाथ : फैशन की मारी इन लड़कियों और वेश्याओं में क्या अन्तर है ? वह उसकी बाहरी टीम-टाम से चौंधा गया है, किन्तु जल्दी ही उकता जायगा, मैं लिखे देता हूँ।

शिवराम : यह तो बाहरी आकर्षण है, ताराचन्द। दो ही दिन में उतर जायगा।

ताराचन्द : भगवान तुम्हारा भला करे। उसका तो सारा वेतन इसकी एक साड़ी पर खर्च हो जायगा।

पूरन : पर आप निर्णय क्या कर आये ?

ताराचन्द : एक भी भाँवर कम रह जाती तो मैं रुकवा देता शादी ! बिजली पहलवान भुरकस बना के रख देता सबका। लेकिन ब्याह हो चुका था। तो भी उस सिर फिरे पंडित की टाँग और दो चार के सिर फटे।

पूरन : लेकिन प्रोफ़ेसर मदन से क्या बात हुई ?

ताराचन्द : उसका अन्त शायद उन सब से बुरा होता, किन्तु अपने हाथों अपनी लड़की को विधवा बनाने......

राज : (उनके मुँह के आगे हाथ रखते हुए) पिता जी !

रानी : आपने पूछा नहीं प्रोफ़ेसर मदन से कि तुम्हें इस लड़की से शादी करनी थी तो किसी दूसरी भली लड़की का जीवन क्यों नष्ट किया..... ?

ताराचन्द : पूछा नहीं, मेरे प्रश्नों के मारे नाकों दम आ गया प्रोफ़ेसर साहब का। एक बात मुंह से न निकली। लगे हकलाने। मैं तो उसके होश ठिकाने कर देता, पर पंडित

उदयशंकर वहाँ पहुँच गये। अपने लड़के की करतूत का उन्हें भी उसी समय पता चला था। पगड़ी उतार कर उन्होंने मेरे पैरों पर रख दी और कहने लगे, "लड़के से गलती हो गयी है। आप चिन्ता न करें, हमारी बेटी को किसी प्रकार का कष्ट न होने पायगा, कुछ दिनों की बात है, इस लड़की का जादू उतरा कि वह उसी के चरणों में आ गिरेगा।"

(हुक्का पीते हैं।)

बृजनाथ : यही तो मैं कहता हूँ। जवानी के मद में लड़के कई बार ऐसी ग़लतियाँ कर बैठते हैं।

रानी : तो क्या इस ब्याह के बाद भी आप राजो को वहाँ भेजेंगे?

बृजनाथ : नहीं तो क्या बेटा उस चुड़ैल के पैर वहाँ जमने देंगे! इस समय वह राजो को भी रखने के लिए तैयार है।

ताराचन्द : (सहसा हुक्का पीना छोड़कर सव्यंग्य और सक्रोध) रखने के लिए तैयार है......क्या यह किसी घसियारे की लड़की है......किसी लुहार-सुनार की लड़की है......रखने के लिए तैयार है!......जब तक वह वेश्या उस घर में है, ताराचन्द की लड़की कभी वहाँ नहीं जा सकती!

शिवराम : देखो ताराचन्द, इस समय तुम गुस्से में हो। उस लड़की के पैर वहाँ जम गये तो फिर राजो को वहाँ भेजना कठिन हो जायगा, क्या तुम उसे जीवन भर घर बैठाओगे?

(ताराचन्द केवल चुपचाप हुक्का गुड़गुड़ाते हैं।)

रानी : लेकिन उन्होंने राजो में कुछ तो दोष बताया होगा।

बृजनाथ : कुछ नहीं बेटी, उस पर बस उस लड़की का जादू सवार है। वह कहता है कि राज में और मुझ में किसी तरह की मानसिक समता नहीं।

शिवराम : मैंने उसे समझाया था कि मानसिक समता एक महीने में नहीं हो जाती। सुदर्शन को आप बरसों से जानते हैं। राज को आप सिर्फ़ एक साल दीजिए, फिर आप देखिए कि आपमें और उसमें मानसिक समता होती है कि नहीं।

बृजनाथ : जहाँ तक मेरा विचार है उसने यह काम अपने पिता से बदला लेने के लिए किया है।

रानी : बदला ?

बृजनाथ : वह यहाँ ब्याह न करना चाहता था, उन्होंने विवश किया। उसी की प्रतिक्रिया है यह शादी।

रानी : किन्तु इस घरेलू झगड़े में एक दूसरी निर्दोष लड़की का जीवन नष्ट करने का उन्हें क्या अधिकार है ? और इस अपमान के बाद राज ही वहाँ क्यों जाय ?

बृजनाथ : राज का वह घर है। उस पर उसका अधिकार है, पति यदि भूल करता है तो पतिव्रता स्त्री उसे सदैव क्षमा कर देती है।

रानी : किन्तु यदि स्त्री ऐसी भूल करती है तो क्या पति उसे क्षमा कर देता है ?

ताराचन्द : (सहसा हुक्का पीना छोड़कर) जब तक वह वेश्या उस घर में है, राज वहाँ नहीं जायगी बृजनाथ ! अब इस किस्से को छोड़ो। (जोर से हुक्के का कश खींचते हैं।) मदन शायद यह समझता है कि चार अच्छर पढ़ कर

या दो अढ़ाई सौ रुपये की नौकरी करके वह ताराचन्द के कुल का अपमान कर सकता है, किन्तु उसे मालूम नहीं कि ताराचन्द अपने कुल के नाम और उस नाम की प्रतिष्ठा को सबसे ऊपर समझता है। कुल की मर्यादा का ही प्रश्न था कि रानी पिछले साल आयी तो फिर मैंने उसे नहीं जाने दिया। किसी तरह भी रहने की बात होती तो क्या मैं उसे वापस न भेज देता, पर तुम जानते हो, मैं किस बात पर जोर देता रहा हूँ—त्रिलोक अलग होने को तैयार हो, उसे मान से रखने को तैयार हो तो फिर रानी जा सकती है और इसके लिए मुझे मकान और मोटर भी दे देनी पड़े तो मैं दे दूंगा।

[हुक्के का बहुत लम्बा कश लेते हैं, फिर किंचित धीमे और क्रोध भरे स्वर में:]

ताराचन्द : मैंने केवल पंडित उदयशंकर का स्वभाव देखा था बृजनाथ, नहीं उस कुल में है क्या? यजमानों की चिलमें भरते और भाँड़ों की तरह गा-गाकर कथा बाँचते उनकी सात पीढ़ियाँ गुज़र गयीं, ताराचन्द बेटी वाला सही, पर वह अपने कुल का अपमान होता देखने के बदले बेटी को विष दे सकता है.....

[सहसा पर्दा उठाकर कर पंडित उदयशंकर गले में पल्ला डाले, दोनों हाथ बाँधे प्रवेश करते हैं। उनके पीछे-पीछे कुछ और लोग भी हैं? राज हलका-सा घूँघट कर लेती है।]

उदयशंकर : हमारा साहस कि हम आपके कुल का अपमान करें, पंडित जी, हम बेटे वाले हैं, तो क्या हम इसी से बड़े हो गये? हम तो बड़े हुए कि आपने हमारे होकर हमें बड़ा बनाया।

में आपको रोकता रह गया, पर आप क्रोध वश कार में बैठकर चले आये, मैं पल्ला गले में डाले सीधा 'खाई वालों की धर्मशाला' से यहाँ आया हूँ। लड़के का सिर फिर गया हो, वह अपनी औकात भूल गया हो, पर उसका बाप अपनी औकात नहीं भूला। उसका मान-सम्मान सब आपके चरणों पर है। (**सिर से पगड़ी उतार कर पंडित ताराचन्द के पैरों पर रख देते हैं।**) चाहे रखिए चाहे ठुकराइए !

राज : (**सहसा उठते और अपने पिता के चरणों से पगड़ी उठा कर अपने ससुर को देते हुए**) पिता जी, आप क्या करते हैं ? (**फिर लगभग रूँधे स्वर में ताराचन्द से**) पिता जी, मैं जाऊँगी।

ताराचन्द : जब तक वह लड़की उस घर में है, तू वहाँ नहीं जायगी।

उदयशंकर : वह लड़की उस घर में नहीं रहेगी। (**राज के कंधे पर हाथ रखते हुए**) वहाँ हमारी यही बेटी रहेगी।

बृजनाथ : यदि राजी इस समय चली जायगी ताराचन्द, मान-अपमान का विचार छोड़, विवेक से काम लेगी तो वह अपने पति को उस लड़की के कु-प्रभाव से बचा सकेगी। (**राजी से**) देख बेटी, तेरे पति ने एक भूल की है, तू दूसरी भूल न करना। उसकी ग़लती को क्षमा कर देना। उसे अपना लेना। उसे उसकी ग़लती की याद न दिलाना। उस लड़की को भी न कोसना। यह काम तू अपने सास-ससुर के लिए छोड़ देना। तेरा पति उस लड़की के पास जाय तो उसे न रोकना। वह लड़की तेरे पति के पास आये तो उससे घृणा न करना। यह आसान नहीं। बहुत-

बहुत कठिन है। देवियों का काम है। पर हिन्दुस्तान की लड़कियों ने देवियों से बढ़ के काम किये हैं और वे कई बार इस अग्नि-परीक्षा में सफल हुई हैं। तू यह सब करेगी तो अन्त में विजय तेरी होगी। उस दूसरी लड़की से वह कुछ ही दिनों में उकता जायगा।

पूरन : किन्तु वह लड़की अब केवल दूसरी लड़की नहीं रही, उनकी ब्याहता है।

रानी : क्या आप राजी को सौत पर भेजेंगे ?

बृजनाथ : माता कौशल्या की एक छोड़ दो सौतें थीं।

पूरन : पर दशरथ राजा थे। आप साधारण लोगों की बात कीजिए। और फिर कौशल्या ही कौन-सी सुखी रहीं ? चौदह बरस तक रोते-रोते उनकी आँखें अन्धी हो गयीं। और कौन कह सकता है कि रामायण में सत्य कितना है और झूठ कितना।

ताराचन्द : (**अत्यधिक क्रोध से**) पूरन ! अपने धर्मग्रन्थों का अपमान करते तुम्हें शर्म नहीं आती ?

रानी : जिस व्यक्ति ने राजी का इतना तिरस्कार किया, बिना किसी दोष के दूसरा ब्याह कर लिया, उसके पास जाने को, उसकी सेवा करने को आप कहते हैं ?

बृजनाथ : भगवान शंकर की भाँति हिन्दू देवियों ने कई बार विष-पान किया है।

पूरन : मैं पूछता हूँ, विष-पान क्यों आवश्यक है ?

शिवराम : तो क्या तुम लोग चाहते हो कि यह जीवन भर यहाँ बैठी जलती-कुढ़ती रहे ?

पूरन : जले-कुढ़ेगी क्यों, पढ़-लिख कर अपने पाँव पर खड़ी होना सीखेगी।

ताराचन्द : पूरन, बको मत ! सोच कर बात करो !

बृजनाथ : बेटा, पढ़ाना-लिखाना लड़की को आर्थिक रूप से स्वतंत्र बनाने के लिए होता है, किन्तु ब्याह का केवल यही पक्ष तो नहीं, दूसरा भी है ! ब्याह का केवल आर्थिक पक्ष होता तो राजे-महाराजे अपनी लड़कियों के ब्याह न करते।

पूरन : राजी का दूसरा ब्याह हो सकता है।

उदयशंकर : पूरन !

राज : भैया !

पूरन : पुरुष एक स्त्री के होते दूसरा ब्याह कर सकता है तो स्त्री क्यों नहीं कर सकती, विशेषकर पुरुष के ठुकरा देने पर ?

बृजनाथ : कानून के अनुसार हिन्दू-ब्याह टूट नहीं सकता। कानून राजी को इस बात की आज्ञा न देगा।

पूरन : प्रोफ़ेसर मदन दे देंगे।

राज : (अत्यन्त पीड़ा और दुख से, जैसे इस चर्चा ही से उसे कष्ट हो रहा है।) भैया !

उदयशंकर : आपको शर्म नहीं आती, अब ब्राह्मणों की बहू-बेटियाँ वेश्याएँ बनेंगी ?

पूरन : किन्तु ब्राह्मणों की बहू-बेटियाँ क्या......?

ताराचन्द : (गरजकर) चुप रह पूरन !

राज : मैं जाऊँगी, पिताजी !

ताराचन्द : नहीं, तू नहीं जायगी। पूरन और रानो की बात मैं नहीं मानता। मदन यदि उस लड़की को छोड़ दे तो इस अपमान के बाद भी मैं कहूँगा कि तू अपने पति के घर जा। किन्तु जब तक वह वेश्या उस घर में है, मैं तुम्हें कभी वहाँ नहीं भेज सकता। मेरी लड़की हर घड़ी अपनी सौत के मुँह की ओर देखे, ब्राह्मण की बेटी होकर एक अज्ञात-कुल-शीला की चिरौरी करे, यह मेरा और मेरे कुल का अपमान है।

राज : मैं जाऊँगी, पिता जी!

ताराचन्द : अपने कुल के मान को तज कर भी!

राज : मेरा कुल तो उसी दिन बदल गया, जिस दिन आपने मेरा हाथ दूसरे को दे दिया।

रानी : गीली लकड़ी की तरह तुम्हें सुलगना पसन्द है।

राज : मैं यहाँ भी सुलगती रहूँगी जीजी। (पिता से) मैं आपके पाँव पड़ती हूँ पिता जी, मुझे इसी घड़ी भेज दीजिए। मेरे देवता तुल्य ससुर को और न अपमानित कीजिए।

[ताराचन्द क्षण भर क्रोध से आँखें लाल किये अपनी लड़की की ओर देखते हैं, पर उसकी आँखों में इतनी करुणा और आर्द्रता है कि विवश हो कर वे सर झुका लेते हैं।]

ताराचन्द : (लगभग हुँकारते हुए) तुम्हारी इच्छा। (उदय-शंकर से) आप ले जाइए पंडित जी, पर इतना स्मरण रखिए कि ताराचन्द की बेटी उस घर में हेय होकर नहीं रह सकती। जो हाथ उस विष्णु पंडित के सिरफिरे लड़के

की टाँग तोड़ सकते हैं, वे समय पड़ने पर अपनी लड़की को विधवा भी बना सकते हैं, उसका गला तक घोंट सकते हैं। आप इसे मान से रखें तो आप जो चाहें मैं कर दूँगा? मदन को नयी कार ले दूँगा, कोठी बनवा दूँगा। बस मेरी बेटी हेठी होकर न रहे!

उदयशंकर : आपकी बेटी हमारी बेटी नहीं क्या? वह हेठी होकर क्यों रहेगी? वह हमारे घर की लक्ष्मी बन कर, हमारे माथे का मुकुट बन कर रहेगी।

(वृन्दावन खुश-खुश प्रवेश करता है।)

वृन्दावन : ताराचन्द, बधाई हो, लो मुँह मीठा कराओ और रानी को तैयार कर दो! (सहसा उन सबको वहाँ इकट्ठे और उनकी आकृतियों पर चिन्ता, क्रोध, करुणा तथा दुख की छाया देखकर) क्यों, बात क्या है? . . . . . . (फिर एक दृष्टि सब पर डालते हुए) क्या बात है?

ताराचन्द : कुछ नहीं, यह पंडित उदयशंकर राजो को लेने आये हैं। तुम कहो, क्या त्रिलोक से मिले?

वृन्दावन : मैं कहता हूँ, मैंने इस चतुराई से बात चलायी कि वह न केवल मान गया बल्कि रानो को लेने आ रहा है।

ताराचन्द : भगवान तुम्हारा भला करे! तुमने मेरे वंश को कलंकित होने से बचा लिया वृन्दावन। तुमने रानो का ही जीवन नहीं बनाया, मेरी भी सबसे बड़ी चिन्ता दूर कर दी, पर यह चमत्कार हुआ कैसे?

उदयशंकर : (राज से) चलो बेटी तुम तैयारी करो!

राज : मुझे तैयारी ही कौन करनी है। ट्रंक बँधा-बँधाया तैयार पड़ा है।

उदयशंकर : चलो दिखाओ कहाँ है? (अपने साथ के एक लड़के से) महेन्द्र, तुम भाग कर ताँगा ले आओ।

ताराचन्द : सन्तू......सन्तू...... वह सन्तू कहाँ है?

उदयशंकर : (मुड़कर) आप चिन्ता न करें पंडित जी, मेरे साथ लड़के हैं (दूसरे लड़के से) श्रीधर, तुम मेरे साथ आओ! (राज के पीछे जाते हैं। रानी भी उनके पीछे जाती है।)

रानी : अरे तो कुछ खा पी तो लो। जब से आयी हो तुमने पानी तक नहीं पिया और तुम्हें मूर्च्छा आ गयी थी।

(उनके पीछे निकल जाती है।)

वृन्दाबन : (भेद भरे स्वर में) एक दिन अपने लड़के का ज़िक्र करते हुए मैंने बातों-बातों में त्रिलोक से उसके ब्याह और घरेलू जीवन की बात चला दी। उसके भाग्य को सराहा कि उसे रानी जैसी भले कुल की सुशील और समझदार लड़की मिली है। इस पर जल कर वह अपने वैवाहिक जीवन की असफलता का रोना रोने लगा। उसने रानी के विरुद्ध शिकायतों का एक दफ़्तर खोल दिया। मैंने उसे समझाया कि जहाँ परिवार इकट्ठे रहते हैं, वहाँ बहुओं से ये शिकायतें आम होती हैं। सौ में से शायद एक बहू ऐसी मिले जिसके विरुद्ध ये शिकायतें न हों।

ताराचन्द : भगवान तुम्हारा भला करे!

वृन्दाबन : (प्रशंसा से खुश होकर) इस पर वह झेंपा, फिर कहने लगा......इस दशा में जब कि मैंने प्रैक्टिस अभी

हाल ही में शुरू की है, मेरे लिए अलग घर बसाना कठिन है। मैंने कहा......तुम अलग रहना चाहो और अपनी पत्नी को सम्मिलित परिवार के उस झगड़े-झाँझे में रख-कर उसका अपमान न करो तो तुम्हारे ससुर ही तुम्हारी सहायता कर सकते हैं।.....और मैंने दहेज़ में मोटर और मकान न दे सकने का कारण बताया और कहा कि आज तुम अलग हो जाओ तो कल तुम्हें दोनों चीज़ें लेकर देना मेरा काम रहा......

ताराचन्द : भगवान तुम्हारा भला करे!

वृन्दाबन : इस पर वह मान गया और स्वयं ही कहने लगा कि वास्तव में सौ में से अस्सी जोड़ों के असफल रहने का कारण परिवारों का सम्मिलित होना है। नये घर में आकर नयी ब्याही लड़कियों को अपने व्यक्तित्व को नये सिरे से ढालने की कठिनाई से दो चार होना पड़ता है। जब वे इस प्रयत्न में असफल रहती हैं, तो उन्हें प्रति-पल सास-ननदों के ताने सुनने पड़ते हैं। कहने लगा—"मैं तो रानो को सचमुच मन से चाहता हूँ, उसका और उसके पिता का आदर करता हूँ, किन्तु अपने माँ-बाप और भाई-बहिनों के हाथों विवश हूँ।"

बृजनाथ : ये अनपढ़ सास-ननदें जो न करें थोड़ा है।

ताराचन्द : (बृजनाथ की बात के बीच ही में उठकर वृन्दाबन को गले चिमटाते हुए) इस उपकार का बदला कैसे चुकाऊँ भाई, तुमने मुझे जीवन भर के लिए खरीद लिया। मेरी बहुत बड़ी चिन्ता दूर कर दी। (और भी जोर से भींचते हैं, फिर पलट कर पूरन से) क्यों पूरन, मैं कहता

था न कि वृन्दाबन उसे मना लेगा। (वापस आते हुए पूरन के निकट रुक कर) बुद्धिमान यों बिगड़ी बात बना लेते हैं और तुम कहते थे (नकल उतार कर) मैं उससे बात तक करना अपमान समझता हूँ।

वृन्दाबन : त्रिलोक किसी समय भी रानो को लेने आ सकता है, सुबह ही मुझे मिला था।

पूरन : (उसकी ओर ध्यान न देकर पिता की बात का उत्तर देते हुए) मेरा अब भी यही विचार है।

ताराचन्द : (बैठने लगते हैं कि पूरन की बात सुनकर फिर उठते हैं, मुँह चिढ़ाते हुए) मेरा अब भी यही विचार है। (उस के पास से हो कर रानो को आवाज देते हुए सोल्लास अन्दर की ओर जाते हैं।) रानो......रानो!

रानी : (आँगन से) जी आयी (दरवाजे के पास ही उन्हें मिलती है।) जी!

ताराचन्द : तुम भी तैयारी करो बेटा। (उसके कंधे पर हाथ रखे वापस आते हुए) त्रिलोक अभी तुम्हें लेने आ रहा है। वृन्दाबन कहता है कि......

रानी : आपने उन्हें मकान का लालच दिया है?

ताराचन्द : लालच, वह तो मैं तुम लोगों के ही नाम करने वाला था!

रानी : (और भी दृढ़ता से) आपने उन्हें मकान का लालच दिया है?

ताराचन्द : तुम तो पागल हो। वह तो मैं तुम्हारे ही नाम करूँगा, किन्तु बेटी, स्त्री का धन उसके पति ही का होता है। तुम और त्रिलोक कोई दो थोड़ी हो।

रानी : न मैं उनका घर चाहती हूँ, न आपका मकान ! वे कुछ देर पहले आये थे और मैंने यह बात उन्हें समझा दी है।

ताराचन्द : क्या......

रानी : मैं वहाँ नहीं जाना चाहती।

ताराचन्द : पागल हो गयी है।

[पंडित उदयशंकर के पीछे राज प्रवेश करती है। अपने पिता का आशीर्वाद लेने को रुक जाती है।]

रानी : जिस व्यक्ति के समीप चन्द हज़ार के एक मकान का मूल्य मेरे मान से कहीं अधिक है, जो मुझे नहीं, मकान को चाहता है, मैं उस लोलुप की शक्ल तक नहीं देखना चाहती।

ताराचन्द : (क्रोध से) रानो !

वृन्दाबन : हिन्दू देवियाँ सपने में भी कभी अपने पति के विरुद्ध ऐसे शब्द नहीं कहतीं।

पूरन : चाहे वह पति कितना भी अत्याचारी क्यों न हो ?

ताराचन्द : पूरन !

वृन्दाबन : तुम लोग गलत समझते हो। वह अत्याचारी नहीं, वह लोलुप भी नहीं, वह तो बेचारा गाय है। सारा दोष तो उसके माता-पिता का है।

पूरन : (व्यंग्य से) बेचारा गाय !

वृन्दाबन : रानो, वह वास्तव में तुमसे प्रेम करता है। तुम्हारा आदर करता है। तुम्हारे लिए तो वह अपने माँ-बाप तक को छोड़ने के लिए तैयार है।

रानी : मैंने कभी नहीं चाहा कि वे अपने माँ-बाप से अलग रहें,

अपने माँ-बाप को छोड़ दें, किन्तु यदि इस प्रकार, वे एक मोटर और मकान हथिया सकें, तो इस बात का ढिंढोरा पीटने में भी उन्हें संकोच न होगा। आप कहते हैं, वे मुझ से प्रेम करते हैं, यदि मकान के साथ आप उन्हें मोटर भी ले कर देने का वचन दें तो वे मेरी पूजा तक करने लगेंगे।

वृन्दाबन : (शर्म दिलाते हुए) रानी बेटी।

रानी : मैं पूछती हूँ, इस लोलुपता का पेट आप कब तक भर सकते हैं और मैं ही ऐसे लालची के साथ कब तक रह सकती हूँ ?

ताराचन्द : (गरज कर) तू अपने पति से घृणा करती है।

रानी : (निर्भीकता से) मेरा रोम-रोम उससे घृणा करता है।

ताराचन्द : (संयम खोकर) रानो, तू बके जा रही है और मैं चुपचाप तेरे मुँह की ओर तके जा रहा हूँ। तू नहीं जानती, अपने पति के विरुद्ध सपने में भी बुरी बात सोचना कितना बड़ा पाप है ! तू नहीं जानती, तू ने एक ब्राह्मण के घर जन्म लिया है, तुझे एक ब्राह्मण माँ ने पाला है ; तू किसी चांडाल के घर उत्पन्न नहीं हुई !

पूरन : जहाँ तक मनुष्यता का सम्बन्ध है, ब्राह्मण और चांडाल में कोई अन्तर नहीं और फिर ब्राह्मण की लड़की का दिल चांडाल की लड़की से बड़ा नहीं होता और न वह पत्थर ही का......

ताराचन्द : (गरजकर) चुप रहो पूरन, और अपना दर्शन अपने पास रखो। (रानी से) तू समझती है, रानो, कि अपने

पिता के सम्मुख तू ऐसी अधर्म की बात करेगी और वह चुपचाप सुन लेगा ?

रानी : आपके धर्म की बातें मैंने बहुत सुन लीं पिता जी, आपका धर्म भी पुरुषों का धर्म है।

वृन्दाबन : मैं कहता हूँ बेटी, त्रिलोक सचमुच तुम्हारा आदर करता है।

रानी : मैं उस व्यक्ति को आप से अधिक जानती हूँ।

बृजनाथ : तुम्हारे लाभ ही के लिए तो ये मकान तुम्हारे नाम कर रहे हैं बेटी।

रानी : आप यह समझते हैं कि ये मकान मेरे नाम करके मुझ पर कोई उपकार कर रहे हैं ? ये मेरे गले में सदा के लिए दासता की बेड़ी डाल रहे हैं। मुझे ऐसे व्यक्ति के साथ रहने को विवश कर रहे हैं जिसके लिए मेरे मन में लेश-मात्र भी सम्मान नहीं। ये मुझे फिर उस नरक में ढकेलना चाहते हैं, जहाँ घुट-घुटकर मैं अधमरी हो गयी हूँ। ये चाहते हैं, इनके नाम पर, इनके कुल के नाम पर कोई कलंक न आये, चाहे इनकी बेटी घुट-घुट कर मर जाय !

ताराचन्द : (अत्यधिक क्रोध से) रानी !

रानी : (पूर्ववत बृजनाथ से) मैं उस व्यक्ति के साथ दो वर्ष तक रही हूँ और जितना मैं उसे जानती हूँ, आप या चाचा जी नहीं जानते। एक मकान के लोभ में वह मुझे ले जायगा, वह मेरी प्रशंसा और चापलूसी भी करेगा, किन्तु क्या इतना मूल्य देने के बाद इस खरीदे हुए पति को मैं पसन्द कर सकूँगी ? उसका सम्मान कर सकूँगी ? उसे पति परमेश्वर समझ सकूँगी ?

ताराचन्द : लगता है इस निकम्मे, आवारागर्द लड़के ने तेरा भी दिमाग़ ख़राब कर दिया है। पिता के नाते मेरा यह आदेश है कि तू अपने पति के घर जायगी।

रानी : मैं इस आदेश का पालन नहीं कर सकती!

ताराचन्द : (चिल्लाकर) तू अपने पति के घर जायगी या इस घर में भी न रहेगी।

रानी : मैं इस घर को भी नमस्कार करती हूँ।

(हाथ जोड़कर चलने को उद्यत होती है।)

वृन्दावन : रानो बेटा, तू कहाँ जा रही है? तू नहीं जानती कि तू लड़की है, तू कहाँ जायगी?

रानी : (अवरुद्ध कंठ से) जहाँ सींग समायेंगे, चली जाऊँगी, किन्तु इस घर में एक पल भी न रहूँगी।

पूरन : इस बात की चिन्ता न कीजिए चाचा जी। रानो को कहीं और न जाना होगा। यह मेरे साथ जायगी। जिसे आप लोग निकम्मा और आवारा समझ रहे हैं, वह अपनी सारी आवारागर्दी छोड़ कर, तन-मन से परिश्रम करेगा, कमायेगा और अपनी बहिन को इस योग्य बनायेगा कि वह अपने पाँवों पर खड़ी हो सके और अपने पिता की मोटर या मकान के बल पर नहीं, अपनी योग्यता के बल पर आदर-सम्मान पा सके।

ताराचन्द : अच्छा, तो यह आग तुम्हारी लगायी हुई है! निकल जाओ, तुम दोनों इसी क्षण मेरे घर से निकल जाओ!

राज : (आगे बढ़कर अपने पिता को समझाते हुए) पिता जी!

पूरन : चलो रानो, इन पिताओं और पतियों में कोई अन्तर नहीं।

वृन्दावन : ('आप क्या कर रहे हैं', के अन्दाज़ में हाथ बढ़ाते हुए) ताराचन्द।

उदयशंकर : ('आप तो समझदार हैं', के अन्दाज़ में) पंडित जी!

बृजनाथ : (पूरन की ओर बढ़ कर समझाने के अन्दाज़ में) पूरन!

ताराचन्द : (उसी क्रोध की दशा में) चले जायँ। मेरी आँखों से दूर हो जायँ। ऐसी सन्तान से मैं निःसन्तान भला। बचपन ही से इनकी माँ मर गयी। इतनी मुसीबतों से मैंने इन्हें पाला। क्या इसीलिए कि बड़े होकर ये ऐसे निर्लज्ज और कपूत निकलें!

रानी : (रुँधे हुए गले से) आप अन्याय करते हैं पिता जी। हम आपके उपकारों का बदला नहीं चुका सकते, किन्तु......

ताराचन्द : (चीख कर) चले जाओ; मेरी आँखों से दूर हो जाओ!

राज : (रानी की ओर बढ़ते हुए) जीजी!

रानी : (जाते-जाते रुककर) आज से हमारे रास्ते अलग होंगे राजो। मैं प्रार्थना करूँगी कि तुम सुखी रहो।

पूरन : स्वाभिमानियों के लिए आदि-काल से यह मार्ग खुला है, राजो।

राज : मेरा मार्ग भी तो सनातन है, भैया।

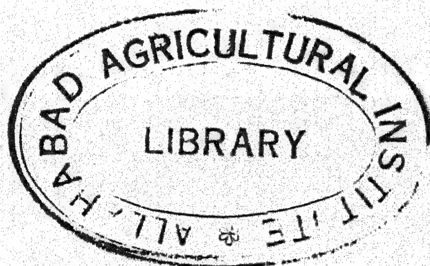
पूरन : परमात्मा तुम्हारे पाँवों को छलनी होने से बचाये! (रानी के कंधे पर हाथ रखते हुए) चलो रानो!

(चलते हैं।)

बृन्दावन : (ताराचन्द को समझाने के लिए दोनों हाथ बढ़ाते हुए उसकी ओर बढ़ कर) ताराचन्द !

बृजनाथ : (पूरन को समझाने के लिए दोनों हाथ बढ़ाते हुए, उसकी ओर बढ़कर) पूरन !

[ताराचन्द क्रोध से पागल, राज सहमी, उदयशंकर परेशान, वृन्दाबन ताराचन्द को और बृजनाथ पूरन को समझाने के लिए हाथ फैलाये खड़े हैं। रानी के कंधे पर हाथ रखे, पूरन जाने को पग बढ़ाये है, जब पर्दा गिर जाता है।]



परिशिष्ट

[रंगमंच के दो व्यावहारिक अनुभव]

प्रायः मैं अपने नाटक रेडियो पर नहीं सुनता। मेरे लगभग सभी नाटक रेडियो के विभिन्न स्टेशनों से ब्रॉडकास्ट हो चुके हैं, पर इनमें से दो चार ही को मैंने सुना है। यही हाल रंगमंच का है। दूसरे नगरों में स्टेज होने वाले एकांकियों को जाकर देखने की (निमंत्रण सदा मिलते रहे हैं) बात तो दूर रही, अपने शहर में होने वाले नाटकों को भी मैं प्रायः नहीं देखता।

मेरी इस वितृष्णा का कारण रेडियो या रंगमंच से मेरी बेदिली नहीं। रेडियो के माध्यम को मैं बड़ा सबल माध्यम मानता हूँ और रंगमंच का मुझे जैसा शौक है, उसे सभी जानते हैं।

इस अन्यमनस्कता के कारण पर जब विचार करता हूँ तो लगता है कि जैसे मैं डरता हूँ—डरता हूँ कि कहीं खेलने वाले नाटक का सत्यानास ही न कर दें। ऐसे न खेलें कि उनके अभिनय की अनगढ़ता में उसका मुख्य उद्देश्य ही खत्म हो जाय!

और मुझे शुरु-शुरु की एक घटना याद आती है :

शायद १९३८ की बात है। लाहौर में नया-नया रेडियो स्टेशन खुला था। मैंने कुछ दिन पहले अपना पहला नाटक "पापी' लिखा था और मुझे वह बड़ा पसन्द था। किसी मित्र के कहने पर मैंने वह रेडियो में भेज दिया। वह स्वीकार हो गया और सबसे बड़ी बात यह हुई कि एक दिन जब मैं स्टेशन पर गया तो मुझे मालूम हुआ, प्रसिद्ध एक्टर हीरालाल उसमें काम कर रहे हैं। हीरालाल चाहे अब एक कैरेक्टर एक्टर हैं, पर तब वे एक फ़िल्म में नायक का रोल कर रहे थे। नाटक के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने के लिए वे मुझसे मिलने आये। साथ उनके एक सुन्दर लड़की भी थी। उन्होंने कहा कि नाटक मुझे बहुत पसन्द है और मैं शान्तिलाल का रोल ऐसे अदा करूँगा कि आपको लुत्फ़ आ जायगा। एक दो डॉयलाग उन्होंने बोलकर भी दिखाये। फिर उन्होंने अपने साथ वाली लड़की की ओर संकेत करते हुए बताया कि 'छाया' की भूमिका में यह काम करेंगी और वे उन्हें ऐसा ट्रेण्ड कर देंगे कि सुनने वाले दंग रह जायेंगे। ओठों के आगे हाथ रखकर उन्होंने यक्ष्मा की कृश-काय रोगिनी की खाँसी की नकल की। उनके सिखाने पर जब लड़की ने वैसा ही खाँसा तो मुझे रोमांच हो आया और मैंने तय कर लिया कि मैं यह नाटक ज़रूर सुनूंगा।

मैं उस समय जिस वातावरण में रहता था, उसमें अपने यहाँ तो दूर, किसी मित्र अथवा पड़ोसी के यहाँ भी रेडियो नहीं था। नाटक की रात मैंने अपने दो-एक मित्रों को साथ लिया और दो मील चल कर शिमला पहाड़ी के पास रेडियो स्टेशन पहुँचा। विज़िटर्ज़ रूम में लाउडस्पीकर दीवार से लगा था, कुर्सियाँ उसके पास घसीट कर हम बैठ गये, तभी एलान के बाद छाया की कमज़ोर आवाज़ सुनायी पड़ी और वह खाँसी—पहले वाक्य ही ने मन के तार झनझना दिये और उस

खाँसी ने शरीर को कँपा दिया। हीरालाल ने बड़ा सुन्दर निर्देशन किया था।

हीरालाल की आवाज़ भी बड़ी गहर-गम्भीर और प्रभावशाली थी—ट्रेजेडी के उस अहसास के बावजूद नाटक की सफलता से मन में हल्की सी ख़ुशी का आभास भी था कि एक मोटी भद्दी आवाज़ आयी—"क्या हो रहा है, क्या होने वाला है, मैं तो तीमारदारी करने आयी थी . . . ."

और लगा कि जैसे किसी ने सीने में घूँसा मार दिया। 'पापी' की 'रेखा' तेरह-चौदह बरस की लड़की है। लेकिन आवाज़ से लगता था कि बोलने वाली तीस-पैंतीस बरस की है। मोटी और अनपढ़ है। लहजा उसका एकदम पंजाबी था और शब्द 'तुम्हारे' को वह बड़े बेतुकेपन स 'तुमारे, तुमारे' बोलती थी।

उन दिनों जरा सी बात मेरी नींद हराम करने के लिए काफ़ी थी। नाटक के इस उलटे छुरे या यों कहा जाय कि मोटी उलटी छुरी से जिबह किये जाने से मुझे कितनी तकलीफ़ हुई, इसका अन्दाज़ आप इस बात से कीजिए कि वह कसक अब भी बाकी है। इस बीच रेडियो की अपनी नौकरी के दिनों में मैंने अन्सार नासरी द्वारा 'चिलमन', रफ़ी पीर द्वारा 'सुबह-शाम' (अंजो दीदी) और पिछले दिनों अचानक एस० एस० एस० ठाकुर द्वारा निर्देशित 'जय-पराजय' भी सुना है और उनके निर्देशन में मुझे कहीं त्रुटि दिखायी नहीं दी। इतने अच्छे प्रस्तुत होने वाले नाटकों को सुनना बड़ा सुख देता है। पर सुख का यह अहसास पहली असफलता की उस टीस को नहीं मिटा सका और न ही मुझे नाटक सुनने की प्रेरणा दे सका। पहली असफलता का अहसास भी पहले प्रेम सरीखा है और दिल में न जाने कैसा घाव कर देता है जो कभी नहीं भरता।

रहा स्टेज का नाटक—तो इस बीच में बीसियों जगह मेरे एकांकी खेले गये हैं, पर दो अवसरों को छोड़कर मैं कभी अपना नाटक देखने नहीं गया। यद्यपि अपने नाटक को स्टेज पर वैसे ज़िबह होते मैंने कभी नहीं देखा, लेकिन नाटक लिखना शुरू करने से बहुत पहले मैंने वह घटना पढ़ी थी, जब प्रसिद्ध रूसी नाटककार चैख़व ने अपना पहला नाटक 'सी-गल' (सागर-हंसिनी) देखा था और घोर निराशा में वह हाल से भाग गया था। चैख़व की प्रेयसी लिडिया एवीलौव ने अपने संस्मरणों में उसका बड़ा दर्द भरा वर्णन किया है। मुझे उस स्थल पर सदा लगता है कि चैख़व नहीं स्वयं मैं ही वहाँ था, वह नाटक मेरा ही था, जिसे एक्टरों, आलोचकों और प्रतिद्वन्द्वी दर्शकों ने कत्ल कर दिया। और चैख़व—वह इतना निराश हुआ कि राजयक्ष्मा का शिकार हो गया।

और मैं कभी अपना नाटक देखने नहीं गया। नाटकों के सूक्ष्म (Subtle) भाग साधारण एमेचर अभिनेताओं के बस के नहीं होते और उन्हें ज़िबह होते देखना अपने ही बच्चों को अपने ही सामने ज़िबह होते देखने के बराबर है।

लेकिन गत दो-तीन वर्षों में न केवल मुझे अपने नाटक देखने को बाध्य होना पड़ा है, बल्कि उनमें योग भी देना पड़ा है। १९५१ में प्रयाग विश्वविद्यालय के म्योर हॉस्टल की ड्रामेटिक एसोसिएशन ने मेरा नाटक 'छठा बेटा' चुना। वे दो घंटे का नाटक खेल न सकते थे और काट-छाँट कर एक घंटे का बनाने में बहुत से सम्भाषण काटने पड़ते थे और मुझे ख़ासा बुरा लग रहा था। लेकिन एमेचर-नाटक-आन्दोलन में काट-छाँट कर ही सही, नाटकों का खेला जाना मैं ज़रूरी समझता हूँ। नाटकों का ठीक प्रस्तुतीकरण अभीष्ट है, पर वह तभी होगा जब पहले नाटक करने और देखने की प्रवृत्ति देश भर में जागेगी। 'शा' के बारे में सुनता हूँ कि वे घंटों अपने नाटकों की रिहर्सलें कराते थे, कहाँ किसको

खड़ा होना है, कहाँ से कौन संवाद बोलना है, छोटे-से-छोटे ब्यौरे का वे ध्यान रखते थे। नाटककार की हैसियत से, विशेष कर ऐसे नाटककार की हैसियत से, जिसे रंगमंच ही का नहीं, अभिनय का भी अनुभव है, मैं ऐसा न चाहता होऊँ, यह बात नहीं, पर भारत और इंग्लिस्तान की परिस्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। वहाँ रंगमंच की परम्परा भारत की तरह एकदम कभी नहीं खोयी। यहाँ जैसा शून्य वहाँ कभी नहीं हुआ। फिर वहाँ एमेचर रंगमंच यहाँ की अपेक्षा कहीं उन्नत और साधन-सपन्न है और लोगों में नाटकों की बड़ी भूख है। यहाँ के एमेचर मंच पर अभी दो वर्ष पहले तक कोई मौलिक बड़ा हिन्दी नाटक होता ही नहीं था। इसलिए पन्द्रह-बीस मिनट के नाटक के बदले जब म्योर हॉस्टल वाले एक घंटे का नाटक खेलने को तैयार हो गये तो मैंने मन में सोच लिया कि जब मुझे देखना ही नहीं तो नाटक कैसे जिबह किया जाता है, मैं इसकी क्यों चिन्ता करूँ। सो दीनदयाल का पार्ट एकदम काट दिया गया और भी कुछ दूसरे परिवर्तन किये गये, और मैंने उन्हें नाटक खेलने की इजाजत भी दे दी।

"आप नाटक देखने जरूर आइएगा", नाटक के निर्देशक श्री सतीशदत्त पाण्डेय ने कहा।

मैंने उनसे अपनी वितृष्णा की बात कही तो बोले, "हमें जब विश्वास हो जायगा कि नाटक अच्छा हो रहा है तभी आपको कष्ट देंगे।"

कुछ ही दिन बाद पाण्डेय फिर आये, साथ में उनके एक और युवक था, "ये हैं मिस्टर आर० पी० जोशी!" उन्होंने परिचय दिया, "हॉस्टल के बहुत ही अच्छे अभिनेता हैं, इन्हें पंडित बसन्तलाल का पार्ट दिया गया है। पर उसमें इन्हें कुछ कठिनाई पेश आ रही है।"

"क्या कठिनाई है?" मैंने पूछा।

'दूसरे दृश्य में जब बसन्तलाल के नाम तीन लाख की लाटरी निकल आती है और वे इसकी सूचना अपनी पत्नी को देते हैं तो हँसी-हँसी में वे रोने कैसे लग जाते हैं?" जोशी ने कहा।

मैं कुछ क्षण उस युवक की ओर देखता रहा, फिर मैंने पूछा—

"आपने कभी शराब पी है?"

"जी नहीं!"

"आपके परिवार में किसी ने पी है?"

"जी नहीं!"

"आपने कभी किसी को खूब पिये देखा है?"

"जी नहीं!"

"आप कभी ठेके में गये हैं?"

"जी नहीं!"

"तो भई आप यह भूमिका किसी और को दीजिए!"

युवक का मुँह उतर गया। उसे 'छठा बेटा' में पंडित बसन्तलाल की भूमिका बड़ी अच्छी लगती थी और उसे करने को उसका बड़ा मन था।

"आप एक बार करके दिखा दीजिए, फिर मैं कर लूँगा।"

मैं व्यस्त था। झुंझला कर उठा। चपरासी को आवाज़ देकर मैंने दफ़्तर से 'आदिमार्ग' की एक प्रति मँगायी, क्योंकि उसमें छठा बेटा का रंगमंच-संस्करण संकलित है।

"मैं एक बार नहीं दो बार करके दिखा देता हूँ," मैंने कहा, "पर जब तक आप दो-एक बार किसी ठेके में जाकर शराब में धुत्त किसी आदमी को बातें करते; क्षण में हँसते, क्षण में रोते, क्षण में सिर फोड़ने-फोड़वाने को तैयार और क्षण में गले मिलने को तत्पर नहीं देखते, ध्यान से

उसकी भाव-भंगिमाओं का निरीक्षण नहीं करते, आपके लिए पंडित बसन्तलाल की भूमिका को मंच पर सफलता से उतारना कठिन होगा।"

और मैंने दो-तीन बार पंडित बसन्तलाल का वह संवाद करके दिखाया।

जोशी चकित सा देखता रहा, फिर उसने मेरे हाथ से किताब लेली, "लेकिन आप जो संवाद बोल रहे हैं, वे हमारे वाले नाटक से भिन्न हैं।"

"आप उस संस्करण से कर रहे होंगे जो अलग से छपा है।" मैंने कहा।

"जी हाँ !"

"आप नाटक सफलता पूर्वक करना चाहते हैं तो 'आदिमार्ग' से कीजिए, क्योंकि अलग से जो नाटक छपा है, वह पाठ्यक्रम के लिए तैयार किया गया है, इसलिए उसमें कहीं-कहीं क्लिष्ट शब्द आ गये हैं। फिर 'साले' शब्द काटकर उसकी जगह 'कम्बख़्त' कर दिया गया है। हालाँकि कम्बख़्त कहने में वह बात नहीं पैदा होती। यह गाली वाक्य के अन्त में आती है और शराब में धुत्त होने के कारण पंडित बसन्तलाल लटके के साथ इसे देते हैं"—और मैंने उन्हें वैसा एक संवाद बोलकर दिखाया।

दोनों हँसी के मारे लोट-पोट हो गये।

"चाहे मैं और कुछ कर सकूँ या नहीं", जोशी बोला, "पर यह लटका मैं जरूर दे दूँगा।"

उन्होंने 'आदिमार्ग' की एक प्रति ले ली। मैंने उन्हें 'नीटा' (नार्थ इण्डियन थियेट्रिकल एसोसिएशन) के डायरेक्टर श्री विजय बोस से मिला दिया। जोशी की कठिनाई उन्हें समझा दी, पार्ट करके दिखाया और उनसे कहा कि नाटक स्टेज करने में उनकी सहायता कर दें।

नाटक वाले दिन नाटक शुरू होने से एक घंटा पहले जोशी स्वयं आये।

"अश्क जी आप अवश्य चलिए !" उसने अनुरोध किया, "सुबह ड्रेस रिहर्सल हुई थी और सब का ख़याल है कि नाटक बहुत अच्छा हो रहा है। हमने संवाद भी 'आदिमार्ग' के अनुरूप सरल बना लिये हैं। ठेके पर जाने का अवसर तो मैं नहीं पा सका, पर आपने जैसे पार्ट करके दिखाया और बोस साहब ने जैसे बताया उसे उतारने की मैंने पूरी कोशिश की है।"

मेरा जाने को ज़रा भी मन न था। पर जोशी ने बड़ा अनुरोध किया। कौशल्या चलने को तैयार हो गयी तो मैं भी चल दिया।

लेकिन नाटक देखने के बाद लगा कि अच्छा हुआ, हम देखने आ गये। जोशी की भूमिका यद्यपि मेरे ख़याल में ४५ प्रतिशत सफल रही, धुत्त शराबी की चाल में जो लड़खड़ाहट आ जाती है, बाहों और टाँगों पर जैसे उसका अधिकार उठ जाता है, वैसा कुछ जोशी के यहाँ नहीं था। खुशी की बातें करते-करते वह आँसू भी नहीं बहा सका, पर 'साले' जहाँ-जहाँ भी आया उसने ऐसे लटका देकर कहा कि दर्शक हँसी के मारे लोट-पोट हो गये।

शेष पात्रों में डाक्टर हंसराज, चचा चानन राम, कैलाश और गुरु की भूमिकाओं में सर्व श्री एस० पाण्डेय, एन० पन्त, एम० सारस्वत तथा आर० शंकर बड़े सफल रहे।

चचा चानन राम का तो मेक-अप देखकर ही हँसी आ जाती थी।

माँ और कमला की भूमिका लड़कों ही ने की। माँ का अत्यधिक करुण पार्ट ज़रा भी नहीं आया, पर कमला की भूमिका में जिस लड़के ने पार्ट किया, उसने लड़कियों से भी अच्छा किया। जब डाक्टर हंसराज ने

दूसरी बार कहा—मैं डाक्टर हूँ, मेरी पोजीशन है तो उसने (उन्होंने कमला को घूँघट काढ़ वहीं पीढ़े पर बैठी दिखाया था) सव्यंग्य ऐसे "हुँ हुँ" किया कि दर्शक अनायास ठठाकर हँस दिये।

अन्त को भी उन्होंने जरा बदल दिया। 'छठा बेटा' के पहले संस्करण का अन्त यों था—

[तभी उनकी (पं० बसन्तलाल की) दृष्टि धरती पर गिरे हुए लाटरी के टिकेट पर चली जाती है। वे उसे उठा लेते हैं, उसे आँखों के पास ले जाकर पढ़ते हैं। तभी सब कुछ उनके सामने साफ़ हो जाता है। सिर झुक जाता है और एक दीर्घ-निश्वास उनके ओठों से निकल जाता है।]

पाण्डेय जी को आपत्ति थी कि जहाँ तक दर्शकों का सम्बन्ध है, यह अन्त प्रभावोत्पादक नहीं। क्योंकि पिछली पंक्ति में बैठे लोगों को यह दीर्घ-निश्वास और तज्जनित मुख-मुद्रा दिखायी न देगी। सो अन्त यों किया गया।

[तभी उनकी दृष्टि धरती पर गिरे हुए लाटरी के टिकेट पर चली जाती है। वे उसे उठा लेते हैं और उसे हाथ में लिये और पढ़ते हुए उठते हैं। तभी सब कुछ उन पर प्रकट हो जाता है। चौंककर वे चिल्ला उठते हैं—"तो क्या यह सपना था"—और फिर चारपाई पर लुढ़क जाते हैं।]

जोशी ने यह टुकड़ा इतना अच्छा किया कि जब दृश्य पर पर्दा गिरा तो लोग अनायास करतल-ध्वनि कर उठे। अजीब बात यह है कि मैं स्वयं वे सब त्रुटियाँ भूल गया और बेसाख्ता ताली बजा उठा।

दो बातों का पता 'छठा बेटा' के उस प्रदर्शन में चला। रंगमंच पर होना यह चाहिए कि जब किसी स्थल पर लोग हँसें तो अभिनेता

क्षण भर को मौन हो जायें। 'छठा बेटा' में दर्शक इतना हँसेंगे और नाटक इतना सफल रहेगा, यह न सोचा था। इसलिए अभिनेताओं को खबरदार न किया था। वे इस बात का खयाल नहीं रख सके और बहुत से संवाद सुनायी नहीं दिये। सिनेमा के पर्दे पर कभी-कभी आवाज़ बन्द हो जाने से जैसे तस्वीरों के ओठ हिलते दिखायी देते हैं, कुछ वैसा ही दृश्य वहाँ दिखायी दिया। दो साल बाद 'अलग-अलग रास्ते' खेलते समय मैंने 'नीटा' के सभी सदस्यों को इस बात से खबरदार कर दिया और 'अलग-अलग रास्ते' की सफलता में इस छोटी सी बात का बड़ा हाथ है। राज जोशी और कौशल बिहारी लाल ने दूसरे एक्ट में इस बात का बड़ा खयाल रखा। एक भी सम्वाद नहीं मरने दिया और हाल लगातार कहकहाज़ार बना रहा।

दूसरी बात जिसका आभास उस रात हुआ, वह थी नृत्य-गान-विहीन आधुनिक बड़े नाटक की सफलता। आज तक हमारे यहाँ या तो ऐतिहासिक नाटक खेले जाते रहे हैं या नृत्य-गान वाले एकांकी या कंसर्ट! ऐसा लम्बा सामाजिक नाटक भी एमेचर मंच पर सफल हो सकता है, जिसमें एक भी नाच या गाना न हो, यह उसी रात मालूम हुआ। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, यदि ऐसे नाटक की सफलता में मेरा विश्वास न होता तो मैं ऐसा नाटक लिखता ही क्यों, लेकिन अपनी आँखों के सामने उसे सफल होते देख कर, लोगों को बात-बात पर ताली बजाते देखकर मेरा विश्वास और भी पक्का ज़रूर हुआ। यद्यपि मेरे विचार से नाटक केवल ४५ प्रतिशत सफल हुआ, लेकिन यह तो मालूम हो गया कि यह कितना अच्छा हो सकता है और कैसे दर्शकों को हँसा-रुला सकता है।

मुझसे अधिक उसका प्रभाव श्री विजय बोस पर हुआ और जब मैंने १९५३ के अपने मसूरी प्रवास में 'अलग-अलग रास्ते' की अन्तिम पाण्डुलिपि तैयार की और आ कर उन्हें दिखायी तो उन्होंने तय किया

कि 'नीटा' की ओर से अगला नाटक वे एकांकी न करके बड़ा करेंगे, 'अलग-अलग रास्ते' करेंगे और पैलेस थियेटर में करेंगे।

'नीटा' इलाहाबाद के निम्न-मध्य-वर्गीय आर्टिस्टों की संस्था है, जिसमें बड़े अच्छे अभिनेता हैं, पर सब-के-सब साधन-हीन हैं। १९५१ में मेरे ही यहाँ रेडियो स्टेशन इलाहाबाद, अग्रसेन हाई स्कूल तथा एकाउण्टेण्ट जनरल के दफ़्तर के चन्द कलाकारों की उपस्थिति में इसका सूत्रपात हुआ। पहले-पहल 'नीटा' ने मेरा ही एकांकी 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ' खेला, फिर एक साल बाद मेरा ही दूसरा एकांकी 'मस्केबाज़ों का स्वर्ग' खेला। फिर श्री भगवती चरण वर्मा के 'दो कलाकार' और 'सबसे बड़ा आदमी' खेले। इस बीच 'नीटा' के आर्टिस्ट दूसरी संस्थाओं में योग देकर न केवल उनके नाटक सफल बनाते रहे, बल्कि स्वयं भी बड़ा कीमती अनुभव प्राप्त करते रहे।

'नीटा' के लिए 'अलग-अलग रास्ते' के चुने जाने में प्रसिद्ध हिन्दी-कवि श्री भारतभूषण अग्रवाल का भी हाथ है। उन्हें मेरा नाटक 'आदिमार्ग' बड़ा पसन्द था। वे जब लखनऊ में थे तो वे 'आदिमार्ग' स्टेज करना चाहते थे। लेकिन जब सब तैयारी लगभग पूरी हो गयी तो उनका तबादला इलाहाबाद हो गया।

यहाँ आने पर जब उन्हें श्री विजय बोस से मालूम हुआ कि मैंने 'आदिमार्ग' को फिर से लिखा है और उसे तीन एक्ट का बना दिया है तो वे बड़े प्रसन्न हुए। 'नीटा' की एक मीटिंग रखी गयी, वहाँ 'अलग-अलग रास्ते' पढ़ा गया और यही नाटक किया जाय, यह तय हुआ।

लेकिन तब मैं संकोच में पड़ गया। 'पैलेस थियेटर' इलाहाबाद का प्रसिद्ध थियेटर है, उसमें नाटक सफल हो जाय तो क्या बात है। पर यदि असफल रहे तो सिविल लाइन्स में निकलना मुश्किल हो जाय। 'चेख़व' के 'सी-गल' के प्रथम अभिनय की बात मेरी आँखों में घूम गयी।

जब मैंने अपनी शंका प्रकट की तो श्री अग्रवाल और विजय बोस दोनों ने कहा कि यदि नाटक रिहर्सल में आपको अच्छा न लगे तो न किया जायगा। और मैं आश्वस्त हो गया।

'अलग-अलग रास्ते' वास्तव में 'आदिमार्ग' ही का परिवर्तित रूप है। हुआ यह कि 'छठा बेटा' के बाद मैं इसी थीम पर उतना ही बड़ा नाटक लिखना चाहता था। यदि मैं रेडियो में* नौकर न होता तो निश्चय ही मैं तीन एक्ट का नाटक लिखता पर तब मुझे हर दूसरे महीने एक-न-एक नाटक रेडियो के लिए लिखना पड़ता था। रेडियो में दो घंटे का नाटक हो न सकता था। जिन दिनों मैं रेडियो में नौकर हुआ बड़े-से-बड़ा नाटक आध घंटे का हो सकता था। लेकिन १९४३ में इण्टर-स्टेशन-प्ले होने लगे, अर्थात् एक नाटक सभी स्टेशनों से ब्रॉडकास्ट होता था—कभी सजीव और कभी रेकार्ड होकर! इण्टर-स्टेशन-प्ले होने लगे तो स्पर्धा भी जगी और अच्छे नाटकों की माँग भी बढ़ी। अवधि भी आधे घंटे से बढ़कर ४५ मिनट हो गयी। तब मेरे दिमाग़ में 'अंजो दीदी' और 'अलग-अलग रास्ते' के आधार भूत विचार थे। पहले मैंने 'अंजो दीदी लिखना शुरू किया। एक एक्ट लिखकर मैंने रेडियो के ड्रामा इंचार्ज को दे दिया। उन्हें वह इतना अच्छा लगा कि उस एक एक्ट ही को पूरे एकांकी के रूप में ब्रॉडकास्ट करना उन्होंने स्वीकार कर लिया। रफ़ी पीर ने उसे प्रस्तुत किया और इतना अच्छा प्रस्तुतीकरण रेडियो पर मैंने कभी नहीं देखा। 'अलग-अलग रास्ते' को मैंने किसी-न-किसी तरह ४५ मिनट की अवधि में समो दिया और यह 'आदिमार्ग' के नाम से कई बार ब्रॉडकास्ट हुआ।

---

*अश्क जी १९४१ से ४४ तक आल इंडिया रेडियो के दिल्ली स्टेशन से नाटककार के रूप में सम्बद्ध थे।

यद्यपि 'अंजो दीदी' और 'अलग-अलग रास्ते' अपने एकांकी रूप में स्टेज पर भी बड़े सफल रहे, लेकिन मैं सन्तुष्ट न हुआ। 'अंजो दीदी' चाहे लोगों को बिल्कुल पूरा लगता था, लेकिन मुझे एकदम अपूर्ण दिखायी देता था। अब उसके पूर्ण रूप में उसे जो लोग पढ़ेंगे वे मेरे असन्तोष को समझ जायँगे।

'अंजो दीदी' में तो खैर सिवा इसके कि एक और एक्ट लिखना शेष था, मुझे कोई त्रुटि न लगती थी, पर 'अलग-अलग रास्ते', 'आदिमार्ग' के रूप में बड़ा ही त्रुटिपूर्ण मालूम होता था।

पहले तो यह कि ताराचन्द जब अपने जमाई प्रोफ़ेसर मदन को दूसरी शादी करने से रोकने जाते हैं तो दस ही मिनट बाद वापस आ जाते हैं। रंगमंच लाख भ्रम (Illusion) सही पर उनका इतनी जल्दी आ जाना समझने वालों को खटकता है और सत्य का भ्रम नहीं होने देता। दस मिनट में, कार ही में सही, कैसे पं० ताराचन्द खाई वालों की धर्मशाला में पहुँच गये और कैसे (शादी हो ही चुकी सही) उनसे लड़-झगड़ कर वापस भी आ गये?—यह बात अनायास मन में उठती है।

दूसरे पूरन और रानी का चरित्र उसमें अपूर्ण दिखायी देता है। रानी पर अपने भाई का प्रभाव है, पर वह भाई कैसा है, जिसकी शिक्षा बहिन को पति और पिता—दोनों को छोड़कर चले जाने के लिए उद्यत कर देती है, उस भाई का मानसिक स्तर कैसा है, इस सब का पता 'आदिमार्ग' से नहीं चलता। पूरन के एक दो व्यंग्य-वाक्य और मार्क्स और लेनिन की तस्वीरें हैं, लेकिन वे सब पूरन के चरित्र की महत्ता बता सकने में नितान्त कम पड़ जाती हैं।

तीसरे ताराचन्द का चरित्र भी जैसा मैं चाहता था, 'आदिमार्ग' में नहीं उतर पाया। ताराचन्द को मैं एक कठोर पिता के रूप में देखता था,

पर 'आदिमार्ग' का ताराचन्द, लिजलिजा, ढुलमुल किंचित हास्यास्पद और रूढ़िग्रस्त उतरा।

'आदिमार्ग' को 'अलग-अलग रास्ते' के रूप में आने तक १० बरस लग गये। मैं बेशुमार उलझनों में फँसा रहा, उपन्यास और कहानियाँ लिखता रहा, लेकिन इच्छा रहने पर भी इन नाटकों को पूरा नहीं कर सका।

इधर १९५१ में 'नीटा' के संस्थापन के बाद लगातार इन्हें पूरा करने की बात मन में आती रही, पर 'छठा बेटा' की सफलता ने कुछ ऐसा प्रोत्साहित किया कि १९५२ में मैंने उसे ख़त्म कर डाला।

जिन दिनों 'अलग-अलग रास्ते' की रिहर्सल हो रही थी, मैं अपना उपन्यास 'बड़ी-बड़ी आँखें' लिख रहा था। रिहर्सलें श्री विजय बोस और श्री भारत भूषण अग्रवाल ने करवायीं। भारत भूषण नाटक के दस-पन्द्रह दिन पहले बीमार हो गये तो सारा बोझ श्री विजय बोस पर आ पड़ा। क्योंकि यह पहले से तय था कि नाटक अच्छा न होगा तो स्टेज न किया जायगा, इसलिए अन्तिम कुछ रिहर्सलें मेरे यहाँ हुईं। और तो सब ठीक हो रहा था, लेकिन स्टेज पर कौन कहाँ होगा, यह ठीक न था, अन्तिम दृश्य में ख़ासी भीड़ जमा हो जाती थी। वह सब इन अन्तिम रिहर्सलों में नियत किया गया और यद्यपि मैं पूर्णरूपेण सन्तुष्ट न हुआ तो भी नाटक खेला लिया जाय, इसकी अनुमति मैंने दे दी। स्वयं भी नाटक के दिन स्टेज पर उपस्थित रहा।

नाटक हमारी सब की आशाओं से कहीं ज्यादा सफल हुआ। ताराचन्द की भूमिका में विजय बोस, पूरन के रूप में राज जोशी, त्रिलोक की भूमिका में कौशल बिहारी लाल, सन्तू के रूप में ताराचन्द गौड़ बड़े ही सफल उतरे। के० बी० लाल, पी० सी० बनर्जी और अब्बास ने भी ताराचन्द के मित्रों की भूमिका को ख़ूब निबाहा। रानी की भूमिका

में ललिता चटर्जी ने बड़ा सुन्दर अभिनय किया। श्रीमती बिन्दु अग्रवाल राजी की भूमिका में उतरीं। वे इसलिए भी प्रशंसा की पात्र हैं कि उन दिनों उनके पति श्री अग्रवाल सख्त बीमार थे, वे अस्पताल जाती थीं, रिहर्सल करती थीं, अपनी बच्चियों को देखती थीं और अपना पार्ट उन्हें शब्दशः याद था। रंगमंच के लिए ऐसी निष्ठा अलभ्य है। नाटक समाप्त हुआ तो दर्शक हाल के बाहर नहीं जा रहे थे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इससे हम लोगों का दिल बहुत बढ़ा। नाटक के बाद ही सब अभिनेता मेरे घर चाय पर आये और गयी रात तक इस सफलता के नशे में सरशार रहे।

अब इतने दिन बाद जो उस शाम को याद करता हूँ तो लगता है कि 'अलग-अलग रास्ते' की सफलता चमत्कार से कम न थी? मन के मुताबिक केवल दो रिहर्सलें हुईं। ड्रेस रिहर्सल एक भी नहीं हुई। पैलेस के स्क्रीन पर रोगन हो रहा था, इसलिए स्टेज पर जगह नहीं मिली। आधी रिहर्सलें स्टेज पर और आधी पैलेस के बरमादों में हुईं। क्योंकि सेटिंग का कुछ आभास अभिनेताओं को देना जरूरी था, इसलिए पैलेस के स्टेज को नाप कर मैंने अपने काटेज (Cottage) के आगे चाक से स्टेज बनाया और उस में अभिनेताओं की गतिविधि को निश्चित किया।

पैलेस वालों ने हमको मैटिनी के लिए हाल दिया था और हमको हाल छै बजे खाली कर देना था। डा० रूबी मुकर्जी (यद्यपि वे नीटा की सदस्य नहीं, पर हमारी प्रार्थना पर) स्टेज सेट करने में हमारी मदद कर रही थीं। चार बज गये जब सेटिंग खत्म हुई तो उन्होंने आदेश दिया कि लाइट्स ऑन की जायें। तब मालूम हुआ कि बल्ब तो हैं ही नहीं। विजय बोस चिल्ला रहे हैं कि तत्काल नाटक शुरू होना चाहिए और डाक्टर रूबी चिल्ला रही हैं कि बल्बों का इन्तजाम करो। जिन महानुभाव के जिम्मे यह ड्यूटी लगायी गयी थी, वे पता नहीं कहाँ

ग़ायब थे। तब डाक्टर रूबी ने ख़ुद अपने जेब से पैसा ख़र्च करके, पता नहीं कहाँ से, बल्ब मँगाये। यह तय है कि वे ऐन वक्त पर हमारी मदद न करतीं तो हमारा नाटक, सफल होना तो दूर, शुरू ही न हो पाता।

नाटक का पहला दृश्य ज़ोरों से हो रहा था कि पर्दे पर तैनात व्यक्ति ने मुझसे कहा, "मुझे बता दीजिएगा कि मुझे पर्दा कहाँ गिराना है?" मैं चकराया। यों ही तमाशा देखने के लिए गया था, कोई ड्यूटी मेरे ज़िम्मे नहीं थी। लेकिन मेरा नाटक...सफलता-असफलता में मैं साझे का भागी...भागा-भागा ग्रीन-रूम में गया... कहीं से ढूँढ़-ढाँढ़ कर नाटक की एक प्रतिलिपि लाया और पर्दे वाले के पास आ खड़ा हुआ, तभी प्रॉम्पटर ने कहा, "कॉल-बेल बजाइए", "कॉल-बेल बजाइए।" अब मालूम हुआ कि कॉल-बेल पर कोई आदमी नियुक्त ही नहीं। खेल के अन्त तक ये दोनों कर्त्तव्य मैं सरंजाम देता रहा।

अभी खेल कुछ ही बढ़ा था कि पर्दे वाला, "सम्हालिए अपने पर्दे, मैं चला!" कहता हुआ बाहर की ओर बढ़ा। मेरे पाँव तले से धरती खिसक गयी। बढ़कर मैंने उसे रोका। मालूम हुआ कि उसके दो आदमियों को पास नहीं दिये गये हैं। तब 'नीटा' का जो भी मेम्बर सामने पड़ा, उसे डाँट कर मैंने कहा 'इसके आदमियों को बुलाकर फ़र्स्ट क्लास में बैठा दो।'......यह नखरा उसका तब था जब कि पर्दा उठाने और गिराने के लिए उसे पैसे देकर बुलाया गया था।

जहाँ तक अभिनय का सम्बन्ध है, एक दो बातें उल्लेखनीय हैं—

श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने एकांकी संग्रह की भूमिका में नाटक खेलने वालों को जो परामर्श दिये हैं, उनमें सबसे पहला है—क्या आपके पात्रों को अपना-अपना पार्ट याद है या वे प्रॉम्पटर के आसरे काम चलाते हैं.....'अलग-अलग रास्ते' में कुछ लोग ऐसे थे, जिन्हें अपना

पार्ट याद नहीं था और वे प्रॉम्पटर का मुँह तकते थे। इन्हीं की बदौलत अन्त का एक बड़ा महत्वपूर्ण संवाद कट गया। हालाँकि दर्शकों को कुछ मालूम नहीं हुआ पर लेखक के कलेजे पर छुरी चल गयी। दूसरी ओर कौशल बिहारी लाल और राज जोशी को पार्ट अच्छी तरह याद होने से, उन्होंने दूसरा ऐक्ट इतना अच्छा किया कि वह नाटक को उठा कर सफलता के शिखर पर ले गया। दूसरे एक्ट में पूरन और त्रिलोक लगभग आध घंटे तक स्टेज पर रहते हैं। नाटक खत्म करके मैंने मित्रों को सुनाया था तो उन्होंने कहा था—संवाद कितने भी दिलचस्प क्यों न हों, पर यह बोर करेगा। लेकिन राज जोशी और कौशल बिहारी लाल के सुन्दर ऐक्टिंग के कारण दर्शक हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

'छठा बेटा' के अभिनेताओं को यह मालूम न था कि लोग हँसें तो चुप हो जाना चाहिए। इसलिए कुछ बड़े सुन्दर संवाद मर गये। लेकिन 'अलग-अलग रास्ते' के इस दूसरे एक्ट में एक अन्य कारण से एक बहुत ही अच्छा संवाद खत्म हो गया और इस बात का मुझे दुख रहा।

दर्शकों की एक दूसरी प्रवृत्ति भी होती है। वे यदि किसी अभिनेता की एक आध भाव-भंगिमा या संवाद पर हँसते हैं तो फिर उसकी हर अदा पर लगातार हँसते चले जाते हैं, चाहे संवादों में हँसी की गुंजाइश हो या न हो। जिस प्रकार फ़िल्म के पर्दे पर हास्य रस के प्रसिद्ध अभिनेता वी० एच० देसाई की सूरत देख कर ही लोग हँसने लग जाते थे, इसी तरह थियेटर के दर्शक अपने प्रिय अभिनेता की हर अदा पर ठहाके लगाने लगते हैं। 'अलग-अलग रास्ते' में पूरन का पार्ट राज जोशी ने इतनी अच्छी तरह अदा किया कि दर्शक उसकी हर बात पर हँसने लगे। दूसरे एक्ट के अन्त में रानी का बड़ा ही करुण संवाद है, जहाँ वह अपने पति द्वारा कचहरी के फ़्लैट की बात सुनकर दिवा-स्वप्न में खो जाती है। ललिता यह पार्ट बहुत अच्छा कर रही थी—सामने

थियेटर हाल की छत की ओर देखते हुए वह अपने सुख-सपने में गुम थी। उसे आदेश था कि वह 'कार' का शब्द सुनकर चौंके और पलटे, लेकिन 'त्रिलोक' और 'रानी' के संवादों के बीच में पूरन का भी एक संवाद था। राज जोशी ने उसी बेपरवाही और व्यंग्य से उसे अदा किया (यद्यपि दर्शकों के मूड को देखकर उसे संजीदगी से अदा करना चाहिए था) दर्शक ठठा कर हँसे, ललिता समय से पहले पलटी और उस सुन्दर संवाद की आत्मा मर गयी।

'अलग-अलग रास्ते' मेरे निकट पचास-पचपन प्रतिशत से अच्छा नहीं हुआ तो भी इससे मेरा बड़ा दिल बढ़ा और मैंने इस वर्ष 'अंजो दीदी' का दूसरा बड़ा एक्ट, जिसे दस बरस से मैं पूरा करने की सोच रहा था, लिखकर ख़त्म कर दिया।

इस सब के लिए मैं इन एमेचर संस्थाओं का आभारी हूँ जिनके साहसपूर्ण प्रयास मेरी प्रेरणा का कारण बने। 'नीटा' के सदस्यों के प्रति मैं क्या औपचारिकता निभाऊँ, वे सब तो मेरे अपने हो गये हैं।

इलाहाबाद
१-१२-५४

उपेन्द्रनाथ अश्क